चिपको आंदोलन और अन्य जंगलात प्रतिरोधों की परंपरा

अरुण कुकसाल
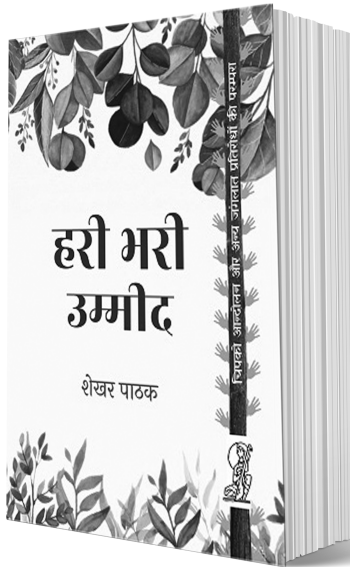
हरी भरी उम्मीद

शेखर पाठक

पृष्ठ : 601.

मूल्य : ₹ 595.

वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

यह किताब उस समाज को समर्पित है जो जंगलों के मायने समझता है। 'यह समाज जानता है कि अस्तित्व है तो अर्थव्यवस्था है। अस्तित्व है तो पर्यावरण है। उत्तराखंड के गाँवों में अपने जल, जंगल और ज़मीन को क़ायम रखना इस समाज के लिए सिर्फ़ अपने को नहीं, एक सभ्यता को क़ायम रखने और सँवारने की लड़ाई है। इन्हीं प्राकृतिक आधारों पर यहाँ की जैविक ही नहीं सांस्कृतिक विविधता की रचना हुई, जो अभी तक टिकी है। इसलिए चिपको या अन्य जंगलात आंदोलनों का इस समाज में प्रकट होना आश्चर्य नहीं, इसके स्वभाव की तरह लिया जाना चाहिए।' (पृ. 32)

शेखर पाठक बात को आगे बढ़ाते हैं, 'सामान्य किसान तथा पशुचारक अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में जिन संसाधनों पर निर्भर थे या हैं, उनकी सुरक्षा तथा स्वामित्व का सवाल उनके अस्तित्व से जुड़ा था और है। इसलिए जंगल के अधिकारों की लड़ाई स्थानीय समाज की अपने को अपनी जगह क़ायम रखने की लड़ाई थी। दार्शनिक रूप से यह अपनी मिट्टी को बचाने का जतन था।

प्रत्यक्ष रूप से यह अपनी खेती, पशुपालन, कुटीर उद्योग, जड़ी-बूटी, कंदमूल और सांस्कृतिक स्थलों-उत्सवों तथा गीतों को बचाने की लड़ाई भी थी।... दूरस्थ दुर्गम इलाक़ों में रहने वाले चुप समाज अन्याय के प्रतिकार का नया मुहावरा कैसे गढ़ते हैं, यह उत्तराखंड में हुए जंगलात संबंधी प्रतिरोधों से बख़ूबी समझा जा सकता है।' (पृ. 76)

शेखर पाठक ने 20वीं सदी तक के गढ़वाल-कुमाऊँ के पहाड़ी इलाक़ों को चुप समाज (कमोबेश आज भी ये चुप समाज ही हैं) कहा है। अपने आप में ही प्रकृति प्रदत्त सौंदर्य और संसाधनों की आत्ममुग्धता में मस्त तरीक़े से जीने वाला आत्मनिर्भर समाज। बाहरी सत्ता के दख़ल ने इस चुप समाज की संप्रभुता, संपूर्णता, सामाजिकता, आत्मसम्मान, आत्मनिर्भरता और आत्ममुग्धता को निरंतर कमज़ोर करने का प्रयास किया। और, यह क्रम आज भी जारी है।

निस्संदेह, लेखक ने तरह-तरह के स्रोतों, किताबों, रिपोर्टों और शोध पत्रों और स्थानीय समाज से बाहर निकलकर चिपको आंदोलन की गहनता, गंभीरता, गौरव और ग़लतियों की तीखी पड़ताल की है। जंगल और वनवासियों के नैसर्गिक अंतर्संबंधों को व्यापक और बहुआयामी फ़लक देकर आम जन की सशक्त अभिव्यक्ति किताब में हुई है। घटनाओं और प्रसंगों के संदर्भ बहुत लुभाते हैं, उनसे ठोस, व्यवस्थित और प्रामाणिक जानकारियाँ मिलती हैं। चिपको के बहाने 20वीं सदी के प्रारंभ से आख़िर तक के पलते-बढ़ते उत्तराखंड के मन-मस्तिष्क का मिज़ाज इसमें है। इस नाते उस दौर के व्यक्तित्वों, संस्थाओं और शासन-प्रशासन की नीति-नियति से हम परिचित होते चले जाते हैं। यह किताब विगत काल में उत्तराखंड की तमाम सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक घटनाओं तथा जन-आंदोलनों के प्रामाणिक दस्तावेज़ों और संदर्भों को साथ लिए उनकी गहन समीक्षात्मक कमेंट्री करती हुई लगती है।

उत्तराखंड हिमालय के जंगलों पर (गोविंद बल्लभ पंत, अनुपम मिश्र, अनिल अग्रवाल, रघुवीर सहाय, जयंत बंद्योपाध्याय, वंदना शिवा, सुनीता नारायण, जी.डी. बैरीमन, माधव आशीष, भारत डोगरा, सुंदरलाल बहुगुणा, चंडीप्रसाद भट्ट, थॉमस वेबर, रामचंद्र गुहा, कुमाऊँ जंगलात जाँच समिति, जर्मन वन विशेषज्ञ फ़्रांज़ हेस्के की रिपोर्ट आदि) तमाम अध्येताओं की नज़र और लोक की समझ को समझते-समझाते हुए शेखर पाठक ने प्रचलित मिथक और मान्यताओं से हटकर इस किताब को लोक की नज़र से लिखा है।

किताब 601 पृष्ठों के फैलाव में 'चिपको का मातृ क्षेत्र', 'औपनिवेशिक शासन का आगमन', 'जंगलात की पहली लड़ाई', 'उत्तर-औपनिवेशिक जंगलात परिदृश्य', 'चिपको के प्रस्फुटन से पहले', 'चिपको की पहली लहर', 'दूसरी लहर : उत्तरकाशी से अल्मोड़ा', 'आपातकाल के बाद तीसरी लहर', 'चौथी लहर : दमन और प्रतिकार', 'वन अधिनियम 1980 के बाद', 'चिपको : एक पड़ताल', 'चिपको : आर्थिक और पारिस्थितिकी', 'चिपको : महिलाओं और युवाओं का योगदान', 'चिपको के 40 साल : धुँधलाती चमक और सतत कौंध' आदि जैसे 14 अध्यायों में समाई है।

जंगलात आंदोलनों का विकास-क्रम

चिपको के मातृ क्षेत्र उत्तराखंड की भौगोलिक संरचना, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, जैविक परिदृश्य

और सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता के परिचय के बाद औपनिवेशिक शासन काल में जंगलों के बदलते स्वरूप को किताब में समझा जा सकता है। किताब बताती है कि शासकों ने हमेशा आम आदमी को जंगलों का दुश्मन माना। उनके लिए आम ग्रामीण जंगलों के 'अवांछित याचक' ही रहे हैं, जबकि सत्ता के लिए जंगल आय और आनंद के केंद्र रहे हैं। विडंबना यह है कि देश में सन् 1864 में जंगलात विभाग के गठन से आज तक यह कुविचार हमेशा हावी रहा है।

यह किताब उत्तराखंड में 19वीं और 20वीं शताब्दी के ऐतिहासिक जंगलात आंदोलनों के ऐसे अनाम नायकों को सामने लाई है जिन पर पूर्व अध्येताओं की नज़र नहीं पड़ी है। टिहरी रियासत की अठूर पट्टी में बदरीसिंह असवाल (सन् 1851), लक्षमसिंह कठैत (सन् 1882) और सकलाना पट्टी के भजनसिंह संकरवाण (सन् 1901) ऐसे ही जाँबाज़ वन आंदोलनकारी थे। फिर जंगल सत्याग्रह के तमाम आंदोलनकारी सामने आते हैं, जो राष्ट्रीय और प्रांतीय स्तर तक जाने गए।

औपनिवेशिक शासनकाल में उत्तराखंड में जंगलों के दोहन के दृष्टिगत सरकारी अधिकारियों का जंगली इलाक़ों की ओर होने वाले निरंतर भ्रमणों ने आम जनता को बेगारी के दलदल में फँसाया। बाद में बेगार और जंगलात के ख़िलाफ़ जनता की यही साझी पीड़ा स्वाधीनता आंदोलन में मुखरित हुई थी। पहाड़ों में जंगल और बेगार आंदोलनों ने स्थानीय निवासियों को स्वाधीनता आंदोलन से जोड़ा। 'राष्ट्रीय संग्राम ने जंगलों को 'जीवन मरण का प्रश्न' माना। बेगार तथा जंगलात के प्रश्नों ने उत्तराखंड को शेष देश से जोड़ा था। पहला इज़्ज़त का सवाल था और दूसरा अस्तित्व का। इसलिए जंगल सदा आंदोलन का विषय रहे।' (पृ. 32)

उत्तराखंड में प्रारंभ से ही अंग्रेज़ी सत्ता का विरोध मुख्यतया जंगलात और कुली बेगार के आंदोलनों के द्वारा ही हुआ था। तत्कालीन समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ और सरकारी रिपोर्ट इसकी पुष्टि करते हैं। सन् 1868 में उत्तराखंड में हिमालय क्षेत्र से प्रकाशित प्रथम हिंदी समाचार पत्र *समय विनोद* ने जंगलों के बारे में सरकारी नीति का विरोध किया था। उसके बाद के समाचारपत्रों यथा — *अलमोड़ा अख़बार*, *गढ़वाली*, *शक्ति*, *स्वाधीन प्रजा*, आदि ने पहाड़ और जंगलों के अंतर्संबंधों को समय-समय पर उजागर करके जनता और जन-प्रतिनिधियों के रोष को प्रकट किया था। बेगार और जंगलात की समस्याओं से परेशान होकर बीसवीं सदी आते-आते ग्रामीणों का जंगलों के प्रति मोहभंग होने लगा। पहले जंगल में लगी आग को बुझाने जहाँ ग्रामीण दौड़े चले जाते थे, अब आग बुझाने के प्रति वे तटस्थ होने लगे। कहीं-कहीं तो नाराज़ ग्रामीणों द्वारा जंगलों में आग लगाने की घटना भी होने लगी थी। हालाँकि बाँज के जंगलों को बचाते हुए भी वे मिलते हैं।

सन् 1903 में लॉर्ड कर्ज़न के कुमाऊँ दौरे पर बेगार और जंगलात की समस्याओं को प्रमुखता से उठाया गया था। ये अलग बात है कि कर्ज़न ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। अंग्रेज़ शासकों का यह उपेक्षा का व्यवहार ही बाद में जंगलात नीति के प्रति जन आक्रोश का कारण बना। टिहरी रियासत के विरुद्ध 30 मई, 1930 के 'तिलाड़ी विद्रोह' के मूल में स्थानीय जनता द्वारा जंगलों पर अपने परंपरागत अधिकारों को बचाना ही था।

उस काल में ग्रामीण जनता का सबसे बड़ा और नज़दीकी शत्रु जंगलात महकमा था। ग्रामीणों को जब भी मौक़ा मिलता वे अपना

विरोध प्रकट करते थे। परंतु उनकी आवाज़ अनसुनी ही रह जाती थी। सन् 1916 में कुमाऊँ परिषद के गठन के बाद जंगलात नीतियों के प्रति संगठित तरीक़े से विरोध होने लगा था। कुमाऊँ परिषद की बैठकों और अधिवेशनों का प्रमुख मुद्दा जंगल और बेगार आंदोलन ही हुआ करते थे। समस्या की गंभीरता को अभिव्यक्त करते हुए दो प्रसंग विचारणीय हैं। 13 अगस्त, 1918 को प्रांतीय काउंसिल में तारादत्त गैरोला ने एक सैनिक द्वारा उनको भेजे गए मार्मिक पत्र का उल्लेख किया कि 'हम तो यहाँ लड़ रहे हैं और साम्राज्य की रक्षा कर रहे हैं, पर हमारे भाई बेगार और जंगलात के कष्ट सह रहे हैं'। (पृ. 90) एक-दूसरे प्रसंग में 'यूरोप के युद्ध मोर्चे पर कुमाऊँ के एक घायल सिपाही के पास जब ब्रिटिश बादशाह आए और तकलीफ़ों के बारे में पूछा तो उसने तत्काल हज़ारों मील दूर स्थित अपने गाँव और परिवार को परेशान करने वाले पटवारी तथा पतरौल के विरुद्ध शिकायत की थी'। (पृ. 96)

भाग-02
स्वतंत्रता के बाद के सामाजिक आंदोलन

'यदि 1864, जब औपनिवेशिक जंगलात नीति का बीजारोपण हुआ, में भारत की धरती के 40 प्रतिशत भाग पर जंगल थे, तो लगभग एक सदी बाद 1952 में स्वतंत्र भारत की पहली वन नीति बनते समय यह प्रतिशत 22 पर आ गया था। जितना व्यापारिक दोहन बढ़ा उतना ही वनवासियों और गिरिजनों का जीवनाधार सिमटता-सूखता गया।' (पृ. 123)

यह अफ़सोसजनक है कि स्वाधीनता से पहले वन समस्याओं पर मुखर और वैचारिक दृष्टि देने वाले गोविंद बल्लभ पंत अपने शासन काल में जंगलों की कोई जनपक्षीय नीति नहीं बना पाए। उनके उदासीन और अड़ियल रुख़ के कारण उत्तराखंड में वन समस्याएँ जटिल होती गईं। यह भी विडंबना है कि चिपको आंदोलन के प्रारंभिक दौर में उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री हेमवतीनंदन बहुगुणा 'चिपको विचार' को संकीर्ण क्षेत्रीयता से प्रेरित मान रहे थे। यद्यपि, चिपको आंदोलनकारियों से प्रत्यक्ष विचार-विमर्श के उपरांत उन्होंने इस आंदोलन की रचनात्मकता और उपादेयता को समझा। नतीजतन, उनके द्वारा जनमुखी वन नीति का प्रारूप बनाने की पहल हुई थी। लेकिन, औपनिवेशिक जकड़न से ग्रस्त जंगलात प्रशासन उन्हें भरमाने में प्रभावी रहा। जिसके कारण पहाड़ के वनों पर वनवासियों के परंपरागत हक़-हकूक़ों की उपेक्षा कर व्यापारिक कंपनियों के हितों का ही पोषण होता रहा।

आज़ादी के बाद उत्तराखंड में वन और वनवासियों की स्थिति और सुधार के दृष्टिगत जन दबाव के बाद बलदेव सिंह आर्य की अध्यक्षता में कुमाऊँ जंगलात जाँच समिति-1959 (कुजजास) का गठन किया गया था। समिति ने जंगलों पर स्थानीय निवासियों के परंपरागत हक़-हकूक़ों को स्वीकारते हुए महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए थे। लेखक का मानना है कि 'समिति की माँगें यदि गंभीरतापूर्वक मानी जातीं तो अगले दशकों में प्रकट व्यापक जन असंतोष तथा जंगलात आंदोलनों के उदय को रोका जा सकता था और प्राकृतिक संसाधनों की हिफ़ाज़त के ज़्यादा कारगर तरीक़े जन सहयोग से निकाले जा सकते थे।...कौशिक समिति से पहले कदाचित् यही रपट थी, जिसमें जनता की इतनी व्यापक हिस्सेदारी हुई थी।' (पृ. 134)।

परंतु, पहले अंग्रेज़ों और फिर काले अंग्रेज़ों की सरकारों ने वनों और वनवासियों के आपसी परंपरागत रिश्तों के प्रति हमेशा बेरुख़ी रखी, उन्हें केवल तात्कालिक हित ही सूझता था। आज भी वही हाल है। बल्कि पिछले कुछ सालों में तो देश की संसद द्वारा बनाए गए पर्यावरण क़ानून ही ताक पर रख दिए गए हैं। 2013 की महा आपदा से भी रत्ती भर नहीं सीखा।

स्वतंत्रता के बाद उत्तराखंड में अधिकांश सामाजिक कार्यकर्ताओं की सक्रियता सर्वोदयी आवरण में रही। सर्वोदयी अपने राष्ट्रीय अभियान भूदान और नशाबंदी से अभिप्रेरित थे। उन्हें उत्तराखंड की ज़मीनी समस्याओं को समझने में वक़्त लगा। इसीलिए प्रारंभ में सत्ताधारी कॉन्ग्रेस की पहाड़ विरोधी ज़मीन, जंगल और जल नीतियों का वे सीधा विरोध नहीं कर पाए। ऐसे में साम्यवादी और समाजवादी कार्यकर्ताओं ने पहाड़ी ज़मीन और जंगल के प्रश्नों को उठाया। परंतु उनकी सीमाएँ थीं। साथ ही, जनसामान्य में नव-संभ्रांतों के प्रभावशाली वर्ग ने सरकार के माध्यम से अपने हित साधने में कामयाबी हासिल कर ली थी। अपनी राजनीतिक और व्यापारिक घुसपैठ एवं ताक़त की बदौलत यह नव-संभ्रांत वर्ग ही पहाड़ी समाज का असली नियामक बन गया था। शेखर पाठक इनके बारे में लिखते हैं कि 'पहाड़ी आदमी के कठिन भूगोल में सरल होने और संसाधनों के बीच क्षतिग्रस्त होने का देश या प्रदेश की सरकारों और 'स्थानीय संभ्रांत' पर कोई असर न था। यह संभ्रांत उत्तराखंड के समाज का वह हिस्सा था जो उत्तराखंड के क़स्बों-नगरों या देश में अन्यत्र स्थापित हो गया था और एक प्रकार से उत्तराखंड की लूट में या तो शामिल था या सहयोगी अथवा तटस्थ दर्शक। कभी-कभी यह वर्ग विवश होकर जन सक्रियता में शामिल हो जाता था। यह औपनिवेशिक काल के भद्रलोक की तरह ईमानदार भी न था। यह समूह उत्तराखंड के सामाजिक और प्राकृतिक शोषण में अधिकांश बार सरकारों या ठेकेदार पूँजीपतियों को ही सहयोग देता रहा था। उत्तराखंड के विभिन्न समुदायों की जो संपदा — जंगल, ज़मीन, चरागाह, नदी तथा ताल आदि — औपनिवेशिक सत्ता ने विभिन्न बंदोबस्तों द्वारा ले ली थी, उसे वह जाते समय नई देशी सरकार को दे गई। जिसे अब इस नई सरकार ने अपने पास स्थायी रूप से रख लिया था। यह ऐसा औपनिवेशिक क़ानून था जिसका पालन करना जैसे नई जनतांत्रिक सरकार के लिए अनिवार्य हो।... पर अब उत्तराखंड के बहुत चुप हिस्से के बोलने की बारी थी। राष्ट्रीय संग्राम और टिहरी रियासत के संघर्षों में भी यह चुप हिस्सा बहुत बार बोला था पर इस बार यह किन्हीं और नेताओं को अपनी ताक़त पर खड़ा नहीं कर रहा था। ख़ुद खड़ा हो रहा था।' (पृ. 176)

उत्तराखंड में 1960 के दशक में ज़मीन और जंगलात के मुद्दे प्रमुखता से सार्वजनिक बहसों में मुखरित होने लगे थे। स्थानीय समाचारपत्र और विधान सभा या संसद की कार्यवाही इन मुद्दों से भरी होती थी। परिणामस्वरूप, पहाड़ की मूलभूत समस्याओं के निराकरण के लिए सन् 1967 में पर्वतीय विकास परिषद का गठन किया गया। 30 मई, 1968 से तिलाड़ी जन-विद्रोह की याद में 'वन दिवस' मनाने की शुरुआत की गई। वन समस्या अब आम बहस का मुद्दा बन गई थी। सन् 1969 के मध्यावधि विधान सभा चुनावों में पहली बार पहाड़ी ज़मीन और जंगल की

समस्याएँ राजनीतिक दलों के चुनावी घोषणा पत्रों में आई। यह ग़ौरतलब है कि संपूर्ण हिमालय के समग्र विकास के दृष्टिगत मार्च 1972 में पिथौरागढ़ के तत्कालीन विधायक हीरा सिंह बोरा ने केंद्र सरकार को 'हिमालय सैल' का अभिनव विचार दिया था। (पृ. 163)

चिपको की शुरुआत

1970 के दशक में यह बात आम थी कि उत्तराखंड के पहाड़ों की वन उपज स्थानीय सहकारी समितियों को न देकर बाहरी निजी ठेकेदारों को दे दी जाती थी। वे कम धनराशि में वन उपज का ठेका प्राप्त करके तुरंत ऊँचे दामों में पुनः बेच देते थे। इस साँठ-गाँठ में सरकारी अधिकारी, नेता और अन्य प्रभावशाली लोग शामिल रहते थे। प्रदेश सरकार की ऐसी ही कई पक्षपातपूर्ण और ग़लत वन नीतियों के ख़िलाफ़ जनता में जगह-जगह विरोध होते थे। परंतु इन छिटके विरोधों में एकजुटता और सामूहिकता आनी अभी बाक़ी थी। और, उसकी शुरुआत 22 अक्टूबर, 1971 को गोपेश्वर में हज़ारों लोगों के निर्णायक प्रदर्शन से हो गई थी। जिसमें जनता द्वारा चेतावनी के स्वर में ऐलान किया गया कि 'जंगलों से प्राप्त कच्चे माल पर अपनी रोजी के लिए पहला हक़ हमारा है'। (पृ. 179) यह निकट भविष्य में आक्रामक वन आंदोलन के पनपने की पहली स्पष्ट आहट थी।

सन् 1967 से 1973 तक पर्वतीय विकास परिषद की अक्षमता, शराब विरोधी आंदोलन, पृथक राज्य आंदोलन की सुगबुगाहट, विश्वविद्यालय के आंदोलनों और अलकनंदा नदी में जुलाई 1970 की बाढ़ के दबाव ने उत्तराखंड में वन आंदोलनों को और तीव्र किया। ...1970 के आसपास उत्तराखंड का समाज अनेक मामलों के लिए लड़ने को तत्पर हो रहा था। सरकार तथा नौकरशाही की संवेदनहीनता ने जनता के आक्रोश को धीरे-धीरे बढ़ाया। अनेक विषय एक बड़े एजेंडे के नीचे आने की स्थिति में आ रहे थे। पहली बार यहाँ के छात्र तथा युवा शैक्षिक, सामाजिक तथा आर्थिक मामलों पर साथ-साथ सोचने लगे थे। उत्तराखंड की सबसे निर्णायक महिला शक्ति, जो शराबबंदी आंदोलन के दौर में सड़कों में आ चुकी थी, अब फिर मैदान में उतरने की तैयारी में थी। यह दशक आक्रामकता तथा रचनात्मकता दोनों से ही भरपूर होने वाला था'। (पृ. 166)

अपने परंपरागत जंगलों से बेदख़ल किए जा रहे ग्रामीणों के आक्रोश से बेख़बर सरकार की मनमानी दिनों-दिन बढ़ती जा रही थी। कृषि यंत्रों के लिए सर्वाधिक उपयोगी अंगू और चमखड़ीक सहित अन्य प्रकार की लकड़ी तक बाहरी कंपनियों (प्रमुखतया विमको, साइमंड कंपनी, स्टार पेपर मिल्स आदि) को बेधड़क दी जा रही थी। परंतु, स्थानीय सहकारी समितियों और कृषकों को हल, लाट और जुवा बनाने के लिए उपलब्ध नहीं हो पा रही थी। सरकार द्वारा यह कुतर्क प्रचारित किया गया कि अंगू और चमखड़ीक के बजाय पहाड़ में कृषि यंत्र चीड़ की लकड़ी से अधिक सुविधापूर्ण तरीक़े से बनाए जा सकते हैं।

दशौली ग्राम स्वराज्य संघ, गोपेश्वर; पर्वतीय नवजीवन मंडल, सिल्यारा; कुमाऊँ वन पंचायत समिति; हेंवलघाटी वन सुरक्षा समिति; पर्वतीय वन बचाओ संघर्ष समिति; युवा एवं छात्र संगठन; ग्रामोत्थान छात्र संगठन; पर्वतीय युवा मोर्चा; भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी तथा कॉन्ग्रेसी कार्यकर्ताओं आदि के द्वारा सरकार की

वन नीतियों के ख़िलाफ़ जगह-जगह पर संचालित आंदोलन एक नई दिशा की ओर गतिशील हो रहे थे। इसी क्रम में 11 दिसंबर, 1972 पुरौला प्रदर्शन, 12 दिसंबर, 1972 उत्तरकाशी प्रदर्शन, 15 दिसंबर, 1972 गोपेश्वर प्रदर्शन, 4-8 नवंबर 1973 जोशीमठ-रेणी की ओर वन बचाओ पैदल यात्रा, 25 दिसंबर, 1973 रामपुर-फाटा प्रदर्शन, 15 मार्च, 1974 जोशीमठ प्रदर्शन ने ऐलान कर दिया था कि पहाड़ी जनता द्वारा अपने जंगलों की हिफ़ाज़त के लिए आर-पार की लड़ाई लड़ी जाएगी। इसमें ठेकेदारी प्रथा की समाप्ति, कच्चे माल-वन उपज को बाहर न भेज कर उसका स्थानीय उपयोग, वन प्रबंधन में स्थानीय लोगों की सहभागिता, पहाड़ों में वनों के प्रस्तावित कटानों को निरस्त किया जाना आदि की प्रबल माँग की जाने लगी थी।

पांगरवासा-मंडल और मैखंडा-फाटा के वन कटानों को निरस्त कराने में सफलता के बाद रेणी के जंगल में होने वाले वन कटान को रोकने के लिए वन आंदोलनकारी सक्रिय थे। पेड़ काटने के लिए ठेकेदार के मज़दूर जैसे ही जंगल की ओर जाते दिखते ग्रामीण ढोल, नगाड़ा, भंकारे और शंख बजा कर सारे इलाक़े को इत्तला कर देते थे। तब, वन कटान को गए सरकारी कर्मचारियों और ठेकेदार की गैंग को भागने के सिवा और कोई चारा नहीं रह पाता था।

'23 मार्च, 1974 को राजकीय महाविद्यालय, गोपेश्वर के छात्रों ने एक ज्ञापन चमोली के ज़िलाधिकारी को दिया और रेणी का कटान रोकने की माँग की। ज्ञापन देने वालों में अधिकांश छात्र जोशीमठ क्षेत्र के थे। 24 मार्च को ये लगभग 60 छात्र गोपेश्वर से बस द्वारा जोशीमठ आए और उन्होने वहाँ प्रदर्शन किया। जुलूस में गोविंद सिंह रावत आगे-आगे चल रहे थे और नारे लगा रहे थे'। (पृ. 205)

इससे पहले इस क्षेत्र में गोविंद सिंह रावत, चंडी प्रसाद भट्ट, हयात सिंह आदि यात्रा कर चुके थे। एक तरफ़ रेणी के जंगल को बचाने के लिए स्थानीय जनता लामबंद हो रही थी तो दूसरी ओर ज़िला प्रशासन, चमोली तथा वन प्रशासन ने गुपचुप तरीक़े से रेणी के जंगल के लगभग 2500 पेड़ों के कटान की तारीख़ 26 मार्च निर्धारित कर दी थी। दूसरी तरफ़ बड़ी चालाकी से सन् 1962 के चीन युद्ध के बाद सीमांत क्षेत्र में ग्रामीणों की भूमि अधिग्रहण के मुआवज़े के वितरण के लिए ज़िला प्रशासन ने इसी दिन 26 मार्च, 1974 को मलारी, रेणी, लाता के अलावा और भी गाँवों के लोगों को चमोली में बुला दिया। अतः इन गाँवों में इस दिन केवल महिलाएँ, बूढ़े और बच्चे ही रह गए थे।

26 मार्च, 1974 की सुबह रेणी के सितेल जंगल की ओर जाते हुए अजनबी लोगों की सूचना एक बालिका ने गाँव के महिला मंगल दल की अध्यक्षा गौरा देवी को दी। तुरंत गौरा देवी के साथ 21 महिलाएँ और 7 बच्चे सितेल जंगल पहुँच कर पेड़ों को काटने आए मज़दूरों के सामने निडर होकर उन्हें चेतावनी देने लगे। महिलाओं ने 'इस जंगल को अपना मायका बताते हुए कहा कि यही उनके जीवन और जीवकोपार्जन का मुख्य आधार है। उन्होंने मज़दूरों को यह भी समझाया कि आज के दिन गाँव के पुरुष चमोली गए हैं। अतः उनके आने तक का आप लोग इंतजार करिए।' परंतु सरकारी ताक़त की धौंस दिखाते हुए बंदूक़धारी फ़ॉरेस्ट गार्ड ने महिलाओं को धमकाना शुरू कर दिया।

'...औरतों के मन में इस बंदूक़धारी को नियंत्रित करने हेतु मंथन चल ही रहा था कि गौरा देवी ने अपनी आँगड़ी के बटन खोलते हुए कहा,

'लो मारो बंदूक़ और काट ले जाओ हमारा मायका!' सर्वत्र चुप्पी छा गई। नीचे ऋषिगंगा बह रही थी और ऊपर नंदादेवी की तरफ़ उठते पहाड़ खड़े थे। बीच में यह प्रतिरोध के पराकाष्ठा पर पहुँचने की चुप्पी थी। इतिहास का एक असाधारण क्षण था यह। ऐसा क्षण 13 जनवरी, 1921 को बागेश्वर में प्रकट हुआ था या 23 अप्रैल, 1930 को पेशावर में। लगता था जैसे गौरा देवी तथा उनके सहयोगियों के मार्फ़त सिर्फ़ रेणी नहीं, पूरा उत्तराखंड बोल रहा था बल्कि देश के सब वनवासी बोल रहे थे'। (पृ. 208) आख़िरकार, मातृशक्ति के आगे सरकारी मनमानी को झुकना पड़ा। और, सितेल-रेणी का जंगल और गाँव की महिलाओं का मायका लुटने से बचा लिया गया।

पांगरवासा-मंडल और मैखंडा-फाटा के बाद सितेल-रेणी के जंगलों को बचाने से उत्साहित वन आंदोलनकारियों का '31 मार्च, 1974 को इस घाटी का कदाचित सबसे बड़ा और भव्यतम प्रदर्शन हुआ। जैसे पूरी धौली घाटी रेणी की सड़क पर इकट्ठा हो गई हो।.... हर ओर से परंपरागत और रंग-बिरंगे कपड़े पहने आदमी, औरतें, बच्चे आ रहे थे। गाजे-बाजों के साथ कुछ समूह नंदादेवी के गीत गा रहे थे तो कुछ समूह उन नारों को दोहरा रहे थे, जिन्हें कार्यकर्ताओं ने पिछले महीनों में गाँवों में बोया था'। (पृ. 210)

भाग-03
चिपको की लोकप्रियता

रेणी में 26 मार्च, 1974 को महिलाओं द्वारा अपने गाँव के जंगल को बचाने की घटना प्रदेश, देश और दुनिया में चर्चा का विषय बनी। महिलाओं के अदम्य साहस और दूरदर्शी सोच की सराहना देश-विदेश के समाचार पत्र-पत्रिकाओं में होने लगी। रेणी की जीत को महिलाओं का जन-आंदोलन में प्रकट रूप में सामने आने की सफल कोशिश मानी गई। यह भी प्रमाणित हुआ कि सरकार की वनों के प्रति जो दोषपूर्ण नीति थीं, उससे महिलाएँ सीधे और सर्वाधिक प्रभावित थीं। यह सभी ने स्वीकारा कि पेड़ों को कटने से बचाने के समय गौरा देवी और उसकी साथियों के मन-मस्तिष्क में पहाड़ी जनजीवन के अस्तित्व एवं अस्मिता दोनों की रक्षा और सम्मान का विचार सर्वोपरि था। यह क्षण प्रकृति और मानव के आत्म-संबधों की ख़ूबसूरत स्वत: स्फूर्त अभिव्यक्ति थी। पर इसके पीछे स्थानीय सामाजिक कर्म भी था।

यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि वर्ष 1974 में चिपको के समानातंर और साथ-साथ उत्तराखंड में तीन अन्य आंदोलनों-अभियानों ने भी ज़ोर पकड़ा। इन तीनों घटनाओं ने चिपको की छत्रछाया में एक-दूसरे को उनके निश्चित मुक़ाम तक ले जाने में सहयोगी और मार्गदर्शी की भूमिका अदा की थी। पहला — बदरीनाथ आंदोलन, जिसमें बिड़ला परिवार द्वारा नया बदरीनाथ मंदिर बनाने का जनता ने विरोध किया था। इसे उत्तराखंड की सांस्कृतिक संपदा और बदरीनाथ मंदिर की प्राचीनता पर ख़तरा माना गया। दूसरा — चूना पत्थरों के विदोहन के विरुद्ध आंदोलन — टिहरी जनपद के सकलाना क्षेत्र और टिहरी-देहरादून जनपद में फैली सोंगघाटी में चूना-पत्थरों के विदोहन के विरुद्ध आंदोलन में विभिन्न सामाजिक कार्यकर्ता एकजुटता के साथ सक्रिय हुए। उक्त दोनों आंदोलनों की सफलता पर चिपको का स्पष्ट प्रभाव था।

चिपको के शुरुआती दौर में एक अभिनव अभियान ने सबका ध्यान अपनी तरफ़ खींचा। यह अभियान कुमाऊँ-गढ़वाल के युवाओं की साझे भागेदारी में उत्तराखंड के पूर्वी हिस्से में स्थित अस्कोट से पश्चिमी हिस्से में हिमाचल सीमा पर आराकोट तक की पैदल यात्रा करने का था। 'अस्कोट-आराकोट अभियान' के बैनर तले 25 मई, 1974 को अस्कोट (पिथौरागढ़) से यह यात्रा आरंभ हुई थी। जंगलों की सुरक्षा, नशाबंदी, जनजागृति, युवाओं को रचनात्मकता की ओर अभिप्रेरित करना और दुर्गम इलाक़ों में विकास की पड़ताल करना इस अभियान के प्रमुख उद्देश्य थे।

'चिपको आंदोलन के संदर्भ में यह यात्रा इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण थी कि अब तक विकसित चिपको संदेश और शैलानी के गीत इसके मार्फ़त उत्तराखंड के दूरस्थ दुर्गम क्षेत्रों के गाँवों में पहुँचे। दूसरी ओर यात्रियों ने स्वयं जंगल का यथार्थ देखा। यात्रियों ने पाया कि जगह-जगह जंगलों का कटान और जड़ी-बूटियों की लूट जारी थी। अनेक नदियाँ स्लीपरों से भरी थीं क्योंकि स्लीपरों का बहान हो रहा था। लीसे और चीड़ की लकड़ी के सीधे मिलों को जाने का तथ्य पता चला। रोज़गार, नफ़ा, मज़दूरी या कच्चा माल स्थानीय समाज को नहीं मिल पा रहा था। उसके हिस्से भूस्खलन, बाढ़, चारे-लकड़ी का अभाव आ रहा था। उत्तराखंड की सामाजिक-सांस्कृतिक तथा भौगोलिक-वानस्पतिक विविधता इस यात्रा से समझी जा सकी, जो बाद में चिपको तथा अन्य आंदोलनों का आधार बनी।' (पृ. 219)

लेखक ने यह माना है कि 'यात्राओं से जन-आंदोलन विकसित होते हैं या नहीं यह आने वाली पीढ़ियों के लिए छोड़ दिया जाए पर यात्राएँ शिरकत करने वाले को समझदार और संवेदनशील अवश्य बनाती हैं'। (पृ. 219) 'अस्कोट-आराकोट अभियान' में भाग लेने वाले युवा बाद में उत्तराखंड के समग्र विकास के

विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय हुए और उन्होंने अपनी एक लोकप्रिय सामाजिक पहचान बनाई। (महत्त्वपूर्ण यह भी है कि वर्ष 1974 के अस्कोट-आराकोट अभियान के बाद 1975 से 78 तक अनेक यात्राएँ कुमाऊँ तथा गढ़वाल विश्वविद्यालयों तथा अन्य कॉलेजों के विद्यार्थियों द्वारा अंतर्वर्ती क्षेत्र में की गईं। फिर *पहाड़* संस्था द्वारा हर दस साल में यह अध्ययन यात्रा की जाती रही है। साथ ही अध्ययन यात्रा के अनुभवों का दस्तावेज़ के रूप में प्रकाशन किया जाता रहा है। सन् 1974 के बाद यह यात्रा 1984, 1994, 2004 और 2014 में आयोजित की गई। इस अभियान में 1974 में कुछ गिनती के नौजवान शामिल थे। यह संख्या वर्ष 2014 में 260 से अधिक रही, जिसमें 60 महिलाएँ थी।)

पांगरवासा-मंडल, मैखंडा-फाटा और सितेल-रेणी के जंगलों को बचाने की जीत ने चिपको आंदोलन को आम लोगों से लेकर नीति-नियंताओं की ज़ुबान पर ला दिया था। मजबूरन ही सही, प्रदेश सरकार का ध्यान उत्तराखंड के संदर्भ में कुमाऊँ जंगलात जाँच समिति, 1959 के सुझावों और चिपको की माँगों पर विचार करने की ओर गया। सरकार द्वारा रेणी जाँच कमेटी बनाई गई जिसने पहाड़ में वनों के संबंध में रिपोर्ट तैयार की। अकादमिक जगत में वनों के संरक्षण और संवर्धन पर केंद्रित लेखन और संगोष्ठियों का एक नया दौर शुरू हुआ।

चिपको की आगे की यात्रा में उत्तरकाशी में वयाली जंगलात आंदोलन और कुमाऊँ क्षेत्र में पर्वतीय वन बचाओ संघर्ष समिति के आंदोलनों ने जनता में अपनी गहरी पैठ बनाई। युवाओं और सामाजिक कार्यकर्ताओं में जगह-जगह पदयात्राओं का दौर चलने लगा। चिपको कार्यकर्ताओं ने गाँव-इलाक़े के सांस्कृतिक समारोहों, लोक उत्सवों, भागवत कथाओं, जागरूकता शिविरों और कार्यकर्ताओं के आपसी मेल-जोल के माध्यम से चिपको के उद्देश्य, संदेश और कार्यक्रमों को लोकप्रिय बनाया। ग्रामीणों विशेषकर महिलाओं ने सार्वजनिक स्थलों में अपनी बात स्वतंत्र और बिना हिचक के प्रस्तुत करना सीखा। वनों के प्रति ग्रामीणों की सामाजिक सक्रियता बढ़ी। नतीजतन, वन कटान के विरुद्ध धरने-प्रदर्शनों के कारण कई जगहों पर वनों की नीलामी स्थगित हुई। साथ ही, जंगलात के मज़दूरों की मज़दूरी में वृद्धि और उनकी कार्य पद्धति एवं दशा में सुधार हुआ।

परंतु, इन सब सकारात्मक परिवर्तनों के बीच सरकारी चालाकियाँ बदस्तूर जारी थी। सरकार अप्रत्यक्ष तौर पर चिपको आंदोलन को कमज़ोर करने के कई हथकंडे अपनाती रही। वन आंदोलनकारियों को प्रलोभनों की पेशकश की जाने लगी। सरकार एक तरफ़ वन बचाओ समितियों की बात करती तो दूसरी तरफ़ जंगल का कटान जारी रखे हुए थी। जनप्रतिनिधि और सामाजिक कार्यकर्ता जो प्रारंभ में चिपको आंदोलन के साथ खड़े थे, सत्ता में आकर विरोध में आचरण करने लगे थे। सत्ता में पहुँचे उन अपने ही साथियों से वन आंदोलनकारियों को लड़ना अधिक कष्टकारी और कठिन था। परंतु इसके बावजूद चिपको विचार के निरंतर बढ़ते प्रभाव और दबाव से प्रदेश और देश की सरकार में ज़बरदस्त कसमसाहट व्याप्त हो रही थी।

इसी दौर में उत्तराखंड के कुछ सर्वोदयी और साम्यवादी विचारों के निकट सामाजिक कार्यकर्ताओं की सक्रियता में एक नया मोड़ आया। पर्वतीय युवा मोर्चा, युवा निर्माण समिति

और उत्तराखंड सर्वोदय मंडल ने आपसी सहमति से 25 मई, 1977 को गोपेश्वर में 'उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी' का गठन किया। उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी चिपको विचार के विस्तार और विकास की ही उपज थी। चुनावी राजनीति से दूर रह कर उत्तराखंड के समग्र विकास को उचित दिशा और गति देना उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी का केंद्रीय ध्येय विचार माना गया। (परंतु अपने गठन के एक दशक बाद ही 'उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी' को चुनावी राजनीति का हिस्सा बनना पड़ा। आज उत्तराखंड के राजनीतिक परिदृश्य में 'उत्तराखंड परिवर्तन पार्टी' और 'उत्तराखंड लोक वाहिनी' बीती 'उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी' के ही दो छोर हैं। निस्संदेह, 'उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी' के उदय, उभार, अलगाव और अवसान पर गंभीर और गहन शोध की आवश्यकता है।)

'उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी' 1970 और 80 के दशक में युवाओं को 'पढ़ाई के साथ लड़ाई' नारे को सामाजिक सरोकारों से जोड़ने और उन्हें दक्ष करने की शीर्ष संस्था के रूप में लोकप्रिय हुई। 'उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी' के नेतृत्व में सन् 1984 से संचालित 'नशा नहीं रोज़गार दो आंदोलन' मूलतः चिपको आंदोलन का ही विस्तार था। परंतु, सरकारी मोहजाल की गिरफ़्त में आ चुका चिपको का शीर्ष नेतृत्व इस आंदोलन में सक्रिय नहीं था। वाहिनी और चिपको नेतृत्व में आ रही दूरी की प्रारंभिक झलक यहीं से देखी जा सकती है।

लेखक का विचार है कि 'किसी ख़ास समय पर उठा सामाजिक आंदोलन तुरंत राजनीतिक आंदोलन नहीं बन पाता है। क्योंकि समझ से परिपक्व और प्रभावी सामाजिक कार्यकर्ता अपने को राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में अधिक सहज नहीं महसूस कर पाता है। 'उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी' के अनुभव इसी ओर इशारा करते हैं।' यह किताब उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी के गठन से लेकर उसकी सामाजिक सक्रियता से ग़ायब होने की भी पड़ताल है।

उस दौर में प्रमुखतया, गोपेश्वर-जोशीमठ, टिहरी-उत्तरकाशी और अल्मोड़ा-नैनीताल में फैली चिपको की गतिविधियाँ अपने स्थानीय आवरणों के अनुकूल संचालित होने लगी थी। जुलाई 1977 में हेंवलघाटी वन सुरक्षा समिति' का 'मरहम पट्टी अभियान'; सितंबर 1977 में संघर्ष वाहिनी का तवाघाट 'भूस्खलन संघर्ष समिति आंदोलन'; 28 नवंबर, 1977 का नैनीताल कांड; दिसंबर 1977 में चाँचरीधार और भ्यूंढार जंगलात आंदोलन; जनवरी 1978 में अदवाणी प्रतिरोध; 16 फ़रवरी, 1978 को हल्द्वानी प्रदर्शन और उस प्रदर्शन में ज़्यादती के ख़िलाफ़ 24 फ़रवरी, 1978 को संपूर्ण उत्तराखंड

> **'यात्राओं से जन-आंदोलन विकसित होते हैं या नहीं यह आने वाली पीढ़ियों के लिए छोड़ दिया जाय पर यात्राएँ शिरकत करने वाले को समझदार और संवेदनशील अवश्य बनाती हैं'। (पृ. 219) 'अस्कोट-आराकोट अभियान' में भाग लेने वाले युवा बाद में उत्तराखंड के समग्र विकास के विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय हुए और उन्होंने अपनी एक लोकप्रिय सामाजिक पहचान बनाई।'**

के अभूतपूर्व बंद ने वन आंदोलनकारियों को सफलता के नए मुक़ाम दिए।

'24 फ़रवरी, 1978 को उत्तराखंड का पहला ऐतिहासिक और समग्र बंद हुआ। इससे पहले कभी भी पूरा उत्तराखंड एक साथ बंद नहीं हुआ था। विश्वविद्यालयों की स्थापना के आंदोलनों के समय अवश्य पूरे गढ़वाल या कुमाऊँ क्षेत्र अलग-अलग बंद हुए थे। जंगलात आंदोलन के दमन के मुद्दे ने पूरे उत्तराखंड को पहली बार एक कर दिया था। यह अभूतपूर्व बंद था और कुमाऊँ तथा गढ़वाल के गाँव-क़स्बों-शहरों तक इसका फैलाव था। दून-तराई-भाबर से धारचूला, जोशीमठ और उत्तरकाशी तक सर्वत्र इसमें हिस्सेदारी थी और इसका व्यापक असर हुआ था। इस तरह के विरोध की अभिव्यक्ति 1994 में उत्तराखंड आंदोलन में हो सकी। पर 1994 में बहुत कम लोगों को 24 फ़रवरी, 1978 के पहले, असाधारण और सफल बंद की याद थी, जिसकी जड़ पर चिपको आंदोलन था।' (पृ. 298)

सितंबर 1978 में नरेंद्रनगर प्रदर्शन में चिपको कार्यकर्ताओं की इस घोषणा का व्यापक असर हुआ कि 'उत्तराखंड में जहाँ-जहाँ वनों की नीलामी और कटान होगा उसका सीधा प्रतिरोध किया जाएगा।' इसी तर्ज़ पर दिसंबर 1978 में टिहरी के बडियारगढ़ एवं अल्मोड़ा के जनोटी-पालड़ी और रंगोड़ी-ध्याड़ी तथा फ़रवरी 1980 में चमोली के चिडंगा-जोला एवं डूंगरी-पैंतोली क्षेत्रों में सरकारी दमन के बाद भी ज़बरदस्त आंदोलन हुए।

भाग-04

चिपको का व्यक्तित्व, अलगाव एवं टूटन

सन् 1974 के बाद धीरे-धीरे चिपको आंदोलन सर्वोदय और भाकपा की पहचान से बाहर निकलने लगा था। सर्वोदय और भाकपा का राष्ट्रीय नेतृत्व प्रारंभ से ही चिपको के स्थानीय मिज़ाज, मूल भावना तथा ज़रूरत को नहीं समझ पा रहा था। सरला बहन, चंडी प्रसाद और गोविंद सिंह रावत ज़रूर चिपको आंदोलन की उपयोगिता को अपने संगठन में समझाते थे, परंतु उनकी सीमाएँ थीं। वास्तव में, सर्वोदय आंदोलन कॉन्ग्रेसी विचारधारा का आदर्शवादी रूप था। इन अर्थों में सर्वोदयी कार्यकर्ता कॉन्ग्रेसी नेताओं के बड़े भाई ही तो थे। अतः उनका अंतर्भाव अच्छे कॉन्ग्रेसी आचरण में निहित था। साम्यवादी और जनसंघी विचारों के फलीभूत होने का भय उन्हें हर समय सताता रहता था। ये वे बख़ूबी जानते थे कि सर्वोदय की प्रतिभा और प्रतिष्ठा कॉन्ग्रेस शासन में ही फलीभूत हो सकती है।

राष्ट्रीय स्तर पर वन और पर्यावरण के प्रति बनी नई समझ के दृष्टिगत वन संरक्षण अधिनियम 1980 अस्तित्व में आया। नए वन अधिनियम 1980 के अनुसार 'किसी भी वन क्षेत्र को ग़ैर वन उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल नहीं किया जा सकता था। कहीं यदि ऐसा किया जाना है तो केंद्र सरकार की अनुमति अनिवार्य थी। पर इस ऐक्ट द्वारा विकसित केंद्रीयता स्थानीय समुदायों के लिए कुछ संदर्भों में संकट पैदा करेगी, तब यह नहीं सोचा गया था। दूसरा निर्णय उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा लिया गया था पर उत्तराखंड के आर्थिक, सामाजिक और पारिस्थितिकीय इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। इसके अनुसार 20 साल से अत्यंत कम दामों में कच्चा माल प्राप्त कर रहे कारख़ाने को अब यह मिलना बंद कर दिया गया। यह लंबे समय से चली आ रही माँग तथा जन-आंदोलन का आंशिक सम्मान था। तीसरा निर्णय

1,000 मीटर से ऊपर हरे पेड़ों के कटान पर रोक लगाना चिपको आंदोलन की महत्त्वपूर्ण जीत थी।' (पृ. 366)।

वन अधिनियम 1980 के लागू होते ही चिपको विचार को देश-दुनिया में वैचारिक समर्थन मिला। परंतु अपनी ज़मीन पर उसे सामाजिक शंका और विरोध का भी सामना करना पड़ा। अधिकांश स्थानीय लोगों ने माना कि यह अधिनियम उनके जंगलों के परंपरागत अधिकारों की रक्षा के बजाय सत्ता के हित में जंगलों के संरक्षण और विकास के लिए बना है। पर जन प्रतिनिधियों ने इसे संसद और विधान सभा में पारित किया।

स्थानीय लोगों के मनोभावों को समझते हुए सरकार ने होशियारी से चिपको के शीर्ष नेतृत्वों को अलग-अलग तरीक़े से सार्वजनिक अभिनंदनों, विभिन्न कमेटियों, पुरस्कारों और सम्मानों के मोह-जाल में फँसाने के प्रयास आरंभ कर दिए थे। और बड़ी आसानी से सरकार ने इसमें कामयाबी भी हासिल कर ली थी। सरकार ने सीधी लड़ाई को तैयार चिपको के शीर्ष नेतृत्व को अपने पक्ष में करने की रणनीति बनाई। इसके तहत, सरकार द्वारा सुनियोजित तरीक़े से चुनिंदा व्यक्तियों का व्यक्तिगत सम्मान किया जाने लगा। चिपको के आम कार्यकर्ताओं ने इसका कुछ सीमा तक विरोध भी किया। उनका मत था कि चिपको आंदोलन का सम्मान होना चाहिए, व्यक्तित्वों का नहीं। कुँवर प्रसून और प्रताप शिखर जैसे कार्यकर्ता तो राजसत्ता से किसी भी प्रकार के सम्मान को लेने के विरोधी थे। परंतु उनकी आवाज़ को अनसुना कर दिया गया।

नतीजतन, सम्मानों ने चिपको के कुछ चेहरों को देश-दुनिया में ख्याति दी, इससे वे आदमी तो बड़े हो गए पर स्थानीय समाज और उनकी संस्थाएँ उनसे बहुत पीछे छूट गईं। यह आंदोलन दो वैचारिक पक्षों की जगह दो चेहरों को लिए आगे बढ़ने लगा। बाद में इन चमकते दो चेहरों ने सत्ता के चेहरे पर जन-उत्तरदायित्वों के सही निर्वहन न करने से जनता की नाराज़गी से उपजी धूल को ही साफ़ करने में अपना योगदान दिया और दे रहे हैं। जिससे तबसे लेकर आज तक की सरकारें अपने को सहज और सुरक्षित महसूस कर सकीं और कर रही हैं (आज भी सरकार पर्यावरण के नाम पर बेख़ौफ़ है। जनता और कथित पर्यावरणविदों की आवाज़ परंपरागत गूँगे विरोध से आगे नहीं बढ़ पाती है।) इनको मिले पुरस्कार कभी इनसे जुड़ी संस्थाओं के काम आए हों ऐसा कोई सार्वजनिक उदाहरण नज़र में तो नहीं है। कदाचित् दशौली ग्राम स्वराज्य मंडल इसका अपवाद हो सकता है।

सुंदरलाल बहुगुणा का क़द इतना बड़ा प्रचारित कर दिया गया कि उनके ही साथी उनको समझ पाने में असमर्थ रहते और अपने को उनके सामने बहुत छोटा समझने लगे। सरला बहन ने चंडी प्रसाद भट्ट को लिखे 18 सितंबर, 1977 के पत्र में यही तो कहा कि '...सुंदरलाल जी भावना के वश में नहीं हैं, वे ख़ालिस बुद्धि से अपना काम करते हैं और अपने में बंद-सा हो जाते हैं। जिससे अकसर हम उन्हें अच्छी तरह नहीं समझ पाते हैं।' (पृ. 553)

चिपको की लोकप्रियता के कलेवर में देश-दुनिया में अलग-अलग तरीक़े से लेखकीय रंग भरे जाने लगे। परंतु एक तरफ़ देश-दुनिया में चिपको आंदोलन के प्रचार की धूम थी तो दूसरी तरफ़ उसके शीर्ष नेतृत्व के मध्य अहम और वहम की धूल मँडराने लगी थी। सम्मानों की ललक ने इसको और पनाह दी थी। चंडीप्रसाद भट्ट के गोपेश्वर से सरला बहन को

लिखा गया 28 जनवरी, 1978 के पत्र की बानगी देखिए: 'मेरी आपसे प्रार्थना है कि फ़िलहाल आप मुझे जो पत्र लिख रही हैं उसकी प्रति औरों को न भेजें (इशारा सुंदरलाल बहुगुणा)। न मेरे पत्र की नक़ल दूसरों को ही भेजें क्योंकि उनकी चर्चा तत्काल दिल्ली और लखनऊ में सुनने को मिलती है।' (पृ. 562)

व्यक्तिगत पुरस्कारों ने आम कार्यकर्ताओं में शंकाएँ और अलगाव भी पनपाया। इस नाते, पुरस्कारों ने चिपको आंदोलन को 'जोड़ा' नहीं बल्कि 'तोड़ा' (आज भी सामाजिक आंदोलनों को तोड़ने और कमज़ोर करने के लिए सरकार के ये सबसे कारगर अस्त्र-शस्त्र हैं)। चिपको के शीर्ष नेतृत्व में अलगाव के साथ आपसी प्रतिद्वंद्विता बढ़ती गई। सन् 1977 से ही दोनों दिग्गजों में अलगाव होने लगा था। लेखक को यह शुरुआत 1974 में प्रकट होती दिखी है। दोनों ने 'एकला चलो' की नीति अपनाई। एक-दूसरे से संवादहीनता की प्रवृत्ति आम कार्यकर्ताओं तक भी पहुँचने लगी। आपसी कार्यक्रमों की सूचना को देने में कोताही होने लगी। सूचना होने और निमंत्रण पर भी दूसरे के कार्यक्रम में न जाने की शुरुआत हो गई थी। इस सबके बावजूद, सामान्य कार्यकर्ताओं का आपसी विश्वास काफ़ी समय तक बना रहा परंतु संवादहीनता के कारण धीरे-धीरे उनमें भी दूरियाँ नज़र आने लगी थीं।

जब से अंतरराष्ट्रीय ख्याति चिपको से चिपकी उसका असली आवरण ढकने लगा। अति प्रचार के शोर-शराबे में उसका मूल आधार का खिसकना और कार्यकर्ताओं की खिसखिसाहट सामने नहीं आ पाती थी। सुंदरलाल बहुगुणा का फ़लक ज़्यादा व्यापक था। हिंदी-अंग्रेज़ी की राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं में अपने पर केंद्रित उनके आलेख अकसर छपते थे। सर्वोदय के लोकप्रिय आवरण में उनका व्यक्तित्व निखरता गया। उन्होंने मीडिया मैनेजमेंट के गुरु मंत्रों को अपनी निजी छवि को निखारने में बख़ूबी उपयोग किया। चंडीप्रसाद भट्ट इसमें हर पक्ष और स्तर पर कमतर ही थे। इसलिए प्रारंभिक दौर में चिपको के पर्याय सुंदरलाल बहुगुणा ही रहे।

'अंतरराष्ट्रीय मंचों पर यह विभाजन तब प्रकट हुआ जब नैरोबी में आयोजित संयुक्त राष्ट्र के यू.एन.डी.पी. द्वारा आयोजित ऊर्जा सम्मेलन में बहुगुणा और भट्ट एक साथ नहीं थे'। (पृ. 379) दोनों अग्रज वहाँ होने पर भी चिपको आंदोलन का अलग-अलग प्रतिनिधित्व कर रहे थे। ये तो इंतहा थी। ये दोनों दिग्गजों के दंभ को दिखाता है। और, शीर्ष नेतृत्व का दंभ किस तरह सामाजिक आंदोलनों को कमज़ोर करता है, इसकी बानगी है (उत्तराखंड के राजनेताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं, विषय विशेषज्ञों, धार्मिक विचारकों आदि के इसी तरह के आपसी अहम ने आज भी उत्तराखंडी समाज और व्यवस्था को कमज़ोर किया और कर रहे हैं।)

व्यक्तिगत सम्मान, निर्णय, अनशन किसी आंदोलन को चलाने में विघटन और भ्रम ही पैदा करते हैं, इसका चिपको प्रामाणिक उदाहरण है। योगेश चंद्र बहुगुणा का यह कथन '...इस आंदोलन में जो दरार पड़ी है उसका कारण शुद्धतावाद और उपयोगितावाद के बीच का सैद्धांतिक टकराव मानकर चलना घटनाओं को सरल करके देखना है। इस आंदोलन के फूट के बीज दो नेताओं की आकांक्षाओं की टकराहट के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं।' (पृ. 390)

यह अनोखी बात है कि चिपको के कुछ चेहरे इतना चमके कि उनकी चौंधियाती
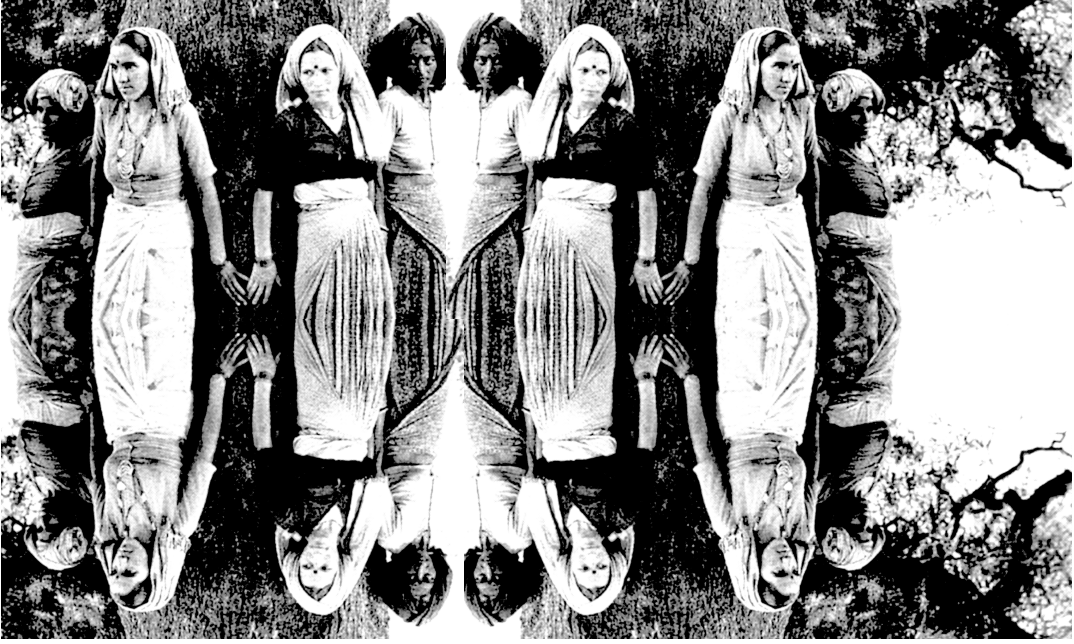
चकाचौंध में अन्य चेहरे फीके ही नहीं गुमनाम हो गए। अंतरराष्ट्रीय ख्याति और सम्मान से नवाज़े गए सुंदरलाल बहुगुणा, चंडीप्रसाद भट्ट और कुछ हद तक गौरा देवी के अलावा और कोई भी चिपको का चर्चित चेहरा न बनाया गया और न बन पाया। कुछ चर्चा शमशेर बिष्ट की ज़रूर हुई पर उसके लिए अन्य कारण भी थे। जैसे उनका अपवाद छात्रनेता होना और अंत तक अपनी स्वायत्तता को बनाए रखना।

चिपको के वीराने में गुमनाम रहे घनश्याम शैलानी, बचन लाल, आनंद सिंह बिष्ट, विमला बहुगुणा, गोविंद सिंह रावत, मुरारी लाल, शिशुपाल सिंह कुँवर, कुँवर प्रसून, मोहन सिंह, प्रताप शिखर, आलम सिंह बिष्ट, केदार सिंह रावत, विजय जरधारी, जीवानंद श्रीयाल, धूम सिंह नेगी, रमेश पहाड़ी, सुदेशा देवी, खड़क सिंह खनी, हयात सिंह, श्यामा देवी और ये क्रम और भी लंबा है। चिपको आंदोलन से जुड़े बहुसंख्यक कार्यकर्ताओं के परिवार आज भी कठिन दौर में हैं। चिपको की दिशा और दशा के बारे में इनमें से कुछ के कथन उनके अग्रणी साथियों और सत्ता की मिलीभगत को दर्शाते हैं।

आनंद सिंह बिष्ट की व्यथा इन शब्दों में बयान हुई कि 'चिपको ने अंतरराष्ट्रीय ख्याति तो प्राप्त की, पुरस्कार भी दिलवाए, लेकिन अंगू का पेड़ नहीं दिला पाया, जिसके लिए यह शुरू किया गया था' (*पर्वतवाणी*, अगस्त, 1988)। पर वे स्वयं बाद में आंदोलन से कटने लगे, जबकि वे भी संघर्ष वाहिनी के संस्थापक थे। एक मुलाक़ात में कभी गोविंद सिंह रावत ने कहा था कि 'चिपको आंदोलन को कुछ लोगों ने अपने हितों के लिए जनता से अपहरण कर लिया था।' लेकिन विष्णु प्रयाग परियोजना का समर्थन उनके स्वयं के प्रतिपक्ष में गया। जबकि विद्या सागर नौटियाल ने टिहरी बाँध आंदोलन में अपनी पार्टी के ख़िलाफ़ जाने का साहस

किया था।

घनश्याम शैलानी का यह कहना कि 'जब कोई सामाजिक आंदोलन हमें बड़ा (समझदार) नहीं बनाता है तो हम (नेता/कार्यकर्ता) उसे (आंदोलन को) छोटा बनाने लगते हैं। यह चिपको पर ही नहीं उत्तराखंड के तमाम आंदोलनों पर सही और तल्ख टिप्पणी थी'। (पृ. 425) एक पत्र में सरला बहन का यह कहना '...मैं सच कहती हूँ कि विमला (बहुगुणा) और उसके काम के सामने मैं नतमस्तक हो जाती हूँ कि कौन इतनी कठिन परिस्थिति में, इतना कठिन काम करके, इतने कठिन व्यक्ति के साथ एडजस्ट करके अपने जीवन में पूरा संतोष मान सकती है। और जहाँ भी जाए सब पर प्रेम की वर्षा करती रहे' (पृ. 553), भी विश्लेषण की माँग करता है।

'... इस आंदोलन में जो दरार पड़ी है उसका कारण शुद्धतावाद और उपयोगितावाद के बीच का सैद्धांतिक टकराव मानकर चलना घटनाओं को सरल करके देखना है। इस आंदोलन के फूट के बीज दो नेताओं की आकांक्षाओं की टकराहट के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं।'

कौसानी आश्रम की प्रथम स्नातिका और सरला बहन की प्रिय शिष्या विमला बहुगुणा कहीं आगे होती यदि वे स्वतंत्र रूप में सामाजिक योगदान और सेवा करती। उन्होंने अपनी जीवनीय प्रतिभा की समस्त संभावनाएँ सुंदरलालजी को समर्पित कर दी हैं। आज भी विमला बहुगुणा का क़द सुंदरलालजी से कहीं बड़ा और प्रेरक दिखता है।

सुंदरलाल बहुगुणा प्रारंभ से ही स्थानीय लोगों के परंपरागत हक़-हकूक़ों से जंगलों की हिफ़ाज़त की बात ज़्यादा करते थे। ख्याति मिलते ही उन्होंने केवल इकॉलॉजी की बात करना उचित समझा और आर्थिकी पर उनका स्वर धीमा होने लगा। बाद में चंडी प्रसाद भट्ट भी सुंदर लाल बहुगुणा का अनुसरण करते हुए आर्थिक पक्ष से ज़्यादा पारिस्थितिकी की ज़्यादा वकालत करने लगे। बहुगुणा की तरह देश-दुनिया का पर्यावरणविद् का आकर्षण इसका कारण रहा होगा। हालाँकि उनकी आवाज़ सदैव स्वतंत्र रही। जैसा कि शेखर पाठक ने लिखा है कि 'अनेक विद्वान यह मानते हैं कि चिपको ने जिस चेतना को जन्म दिया उसमें दर्शन और व्यावहारिकता का समन्वय था।... वह 'आर्थिकी' और 'पारिस्थितिकी' का आंदोलन एक साथ बन गया। चिपको में सिर्फ़ 'पारिस्थितिकी' को ढूँढ़ने से स्वयं यहाँ का समाज शंकित हुआ और बना हुआ है। (पृ. 486)

वन अधिनियम 1980 के बाद आर्थिक और पारिस्थितिकी धड़ों में बँटा चिपको अपने आधार से ही खिसकने लगा। चिपको आंदोलन के कारण सबसे पहले प्रहार उसके कार्यकर्ताओं द्वारा संचालित स्थानीय सहकारी समितियों पर पड़ा। कच्चे माल न मिलने के कारण अस्सी का दशक आते-आते वे बंदी के कगार पर पहुँच गई थीं। वन अधिनियम 1980 के ख़िलाफ़ सन् 1988 में कुछ जगहों में जन-आक्रोश देखने को मिला। यद्यपि, चिपको के विरुद्ध प्रति चिपको/छीनो झपटों/पेड़ों को पटको आंदोलनों को स्थान विशेष के किन्हीं राजनीतिक हितों को बनाए रखने के उद्देश्य से प्रचारित-प्रसारित किया

गया था। गोविंद सिंह रावत और विपिन त्रिपाठी जैसे चिपको कार्यकर्ताओं का ऐसे आंदोलनों को गति देना उनकी राजनीतिक मजबूरी थी। तथापि, 'पेड़ों से चिपको' से लेकर 'पेड़ों को पटको' तक की समय यात्रा के दौरान आम लोगों का मानना था कि एक तरफ़ चिपको आंदोलन ने हमारे पैतृक हक़-हकूक़ों को प्रतिबंधित किया तो दूसरी ओर अब उनके गाँव/इलाक़े के विकास में रोड़ा भी बन रहा है। पर अनेक लोग यह जानते थे कि इस बिल को उन्हीं विधायकों और सांसदों ने पारित किया जो बाद में इसका विरोध करने लगे थे। इससे वन बचे भी पर कटते भी रहे।

चिपको और वाहिनी के एक कार्यकर्ता खड़क सिंह खनी के अनुसार '...संघर्ष वाहिनी प्रारंभ से ही 'चिपको' और 'वन आंदोलन' का फ़र्क़ जनता को बताती आई थी। लोग इस बात को समझ रहे थे कि चिपको (पर्यावरणवादी) नेताओं को सरकारी सेमीनारों में सादर बुलाया जाता है, और वन आंदोलन के नेताओं और कार्यकर्ताओं (वन-खनन पर जनता के अधिकार की माँग करने वालों) पर बेरहमी से सरकारी दमन चक्र चलता है। दरअसल, पर्यावरणवादी (चिपको नेता) सरकारी संरक्षण में इस आंदोलन को भटकाने में सफल रहे। वन विधेयक 1980 उन्हीं की कारगुज़ारियों का परिणाम था' ('सूरज को तो उगना ही था' पृष्ठ 174)।

चिपको नेताओं और वन आंदोलनकारियों की नीति-नीयत के मूलभूत अंतर को इंगित करते खनी के उक्त विचार 80 के दशक के उत्तराखंड का सामाजिक-राजनीतिक सच था। 'चिपको' शब्द नवजात अवस्था में ही 'पर्यावरणवादी' पहचान हासिल कर सरकारी पनाह पा गया था। बाद में, सरकारी संरक्षण-संपर्क में वे पर्यावरणवादी पुरस्कारों को झटकने में कामयाब रहे। इसके दूसरी तरफ़ वन आंदोलन के पक्षकार, आम उत्तराखंडी जनता के जल-जंगल-ज़मीन के हक़ के लिए उनके साथ आज भी लड़ाई के अग्रिम मोर्चे पर तैनात हैं।

कवि राजा खुगशाल की एक कविता इन पंक्तियों से विराम लेती है जो कि चिपको के शीर्ष नेतृत्व की उस समय की मंशा को बख़ूबी बयाँ करती है :

....
कुछ लोग
पृथ्वी के पर्यावरण पर बोलते हुए
चुपचाप बचा गए एक-दूसरे को।

भाग-05

चिपको एक पड़ताल

'सामाजिक आंदोलन कभी भी पूरे समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं। इस तरह असंतोष का बीज बचा रहता है, जो आगामी समय फिर जन-आंदोलन का कारण बनता है। ऐसा उत्तराखंड का बीसवीं सदी का सामाजिक आंदोलनों का इतिहास बख़ूबी बताता है। इसमें असहजता या असफलता नहीं देखी जानी चाहिए' (पृ. 480)।

चिपको आंदोलन की अपनी कमियाँ रही पर इसकी रचनात्मक उपलब्धियाँ कभी कम नहीं हुईं। चिपको के ताप से तपे कार्यकर्ता जीवन के अनेक क्षेत्रों में बहुत गंभीरता से कार्यरत और समर्पित रहे हैं। चिपको आंदोलन की शिथिलता के बाद वापस अपने घरों और कर्मक्षेत्र को लौटे चिपको कार्यकर्ता अपनी रचनात्मकता को

बनाए रखते हुए उसे निरंतर निखारने की ओर प्रयत्नशील रहे हैं। उन्होंने अपनी जीविका के संसाधनों को तलाशते हुए अलग-अलग क्षेत्रों में अपना महत्त्वपूर्ण सामाजिक योगदान दिया और दे रहे हैं। वन पंचायत संघर्ष मोर्चा, नदी बचाओ आंदोलन, पहाड़, चेतना आंदोलन, बीज बचाओ आंदोलन, मैती आंदोलन, डाल्यू का दगड़िया, नैनीताल समाचार, जंगल के दावेदार, अनिकेत, उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी, रक्षा सूत्र आंदोलन, हार्क, लक्ष्मी आश्रम का खनन विरोधी और जंगल बचाओ अभियान, माउंटेन शेफ़र्ड, पाणी राखो आंदोलन आदि चिपको विचार के ही व्यावहारिक रूप रहे हैं।

विजय जड़धारी तथा उनके साथी चिपको के विचार को नया रूप देते हुए सन् 1987 से बीज बचाओ आंदोलन के ज़रिए पहाड़ी खेती को समृद्ध करने की दिशा में सक्रिय हैं। उनके अनुसार 'बारहनाजा की समृद्ध खेती को परंपरा के नाम पर आगे ढोना नहीं है, अपितु उसमें खाद्य सुरक्षा, खाद्य संप्रभुता, पोषण, पशुपालन, पर्यावरण संरक्षण एवं जीवन की नई आशा के बीज प्रस्फुटित होते हैं। यह खेती ग्राम स्वराज्य, स्वावलंबन व स्वाभिमान का प्रयोगात्मक विज्ञान है, जिसे आप पारदर्शिता से देख सकते हैं'। (पृ. 492)

इसी तरह आनंद सिंह बिष्ट, मुरारी लाल, शिशुपाल सिंह कुँवर, शमशेर बिष्ट, गोविंद सिंह रावत, विमला बहुगुणा, धूम सिंह नेगी, प्रदीप टम्टा, गिरीश तिवाड़ी 'गिर्दा', कुँवर प्रसून, जीवानंद श्रीयाल, घनश्याम शैलानी, पीसी तिवारी, प्रताप शिखर, विपिन त्रिपाठी, कमलाराम नौटियाल, राजीव लोचन साह, सच्चिदानंद भारती, राजा बहुगुणा, बालम सिंह जनोटी, योगेश बहुगुणा आदि चिपको विचार एवं आंदोलन से शिक्षित-प्रशिक्षित होकर उत्तराखंड के विकास में महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्वों के रूप में लोकप्रिय रहे हैं।

वास्तव में, 70 के दशक में युवाओं, महिलाओं और दलितों को अपने परिवेश के सामाजिक-आर्थिक सरोकारों से जोड़ने में चिपको आंदोलन ने मुख्य प्रेरक का काम किया। चिपको से प्रशिक्षित जन-समुदाय अस्सी के दशक में 'नशा नहीं रोज़गार दो' और 90 के दशक में 'उत्तराखंड आंदोलन' में सर्वाधिक उद्वेलित रहा। आज भी उत्तराखंड के विविध क्षेत्रों (यथा-राजनीतिक, अकादमिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक) में नेतृत्व की भूमिका में सक्रिय अधिकांश व्यक्तित्वों की पृष्ठभूमि और सामाजिक शिक्षण-प्रशिक्षण पाठशाला में चिपको विचार का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

चिपको मूलतः पहाड़ी किसानों का आंदोलन था। पहाड़ की ग्रामीण अर्थव्यवस्था की मूल ताक़त यहाँ की महिलाएँ रही हैं। अधिसंख्यक पुरुषों के रोज़गार के लिए गाँव से दूर मैदानी क्षेत्रों में रहने के कारण स्थानीय महिलाओं में स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता पहले से ही विकसित थी। स्वाभाविक था कि इस आंदोलन में ग्रामीण महिलाओं को अपने दुख-दर्द के कई समाधान दिखाई दिए। यही कारण है कि रेणी के अलावा चाँचरीधार, गोपेश्वर, डूंगरी-पैंतोली, भ्यूंढार, नरेंद्रनगर, नैनीताल, जनोटी-पालड़ी, मंडल, फाटा, मद्महेश्वर, बछेर, रंगोड़ी-ध्याड़ी, अदवाणी, हेंवलघाटी, बडियारगढ़, दूधातोली तथा नंदीसैंण आदि में महिलाओं की चिपको आंदोलन में बढ़-चढ़कर भूमिका रही। डूंगरी-पैंतोली आंदोलन में तो बांज के जंगल के बजाय आलू की खेती को अपनाने

के निर्णय के कारण महिलाएँ अपने ही गाँव के पुरुषों के ख़िलाफ़ चली गईं। अदवाणी के जंगल में चिपको आंदोलन चला तो दलित परिवार की झाबरी देवी ने पति, परिवार, ठेकेदार, समाज और प्रशासन से सीधे लड़ाई लड़ी। इसी आंदोलन में बचनी देवी ने अपने पति, जो प्रधान भी थे, को चुनौती दे दी थी। सुदेशा देवी तो सबसे सुलझी हुई थीं ही। अंततः ये सभी महिलाएँ अपने मक़सद को हासिल करने में कामयाब भी हुईं। ये अलग बात है कि चिपको आंदोलन की हिस्सेदारी में गौरा देवी के अलावा अन्य किसी महिला का प्रमुखता से नाम नहीं लिया जाता है। ईको फ़ेमिनिज़म वाले भी इसमें चूक गए। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि वर्तमान व्यवस्था में महिलाओं के सामाजिक योगदान का आकलन भी तो पुरुष आधिपत्य की मानसिकता ही करती है। पर इस किताब में चिपको आंदोलन की दर्ज़नों महिलाओं का वर्णन एक साथ मिलता है। अधिकांश नाम पहली बार ही मुद्रित हुए हैं।

यह बात भी दीगर है कि चिपको में दलित वर्ग की भागीदारी को भी समय के अंतराल ने भुला दिया। चिपको पर लिखे गए अथाह लेखों और शोध-पत्रों में दलित योगदान का ज़िक्र चलते-चलते ही हुआ है। निस्संदेह, चिपको आंदोलन में महिला और दलित वर्ग के योगदान पर गंभीर शोध किए जाने की आवश्यकता है। चिपको आंदोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाने वाले कई अनाम नायक हैं, जिन्हें भुला दिया गया था। इस किताब में उल्लेखित जो दर्ज़नों महत्त्वपूर्ण नाम सामने आए हैं उनमें अल्मोड़ा जनपद के रंगोड़ी-ध्याड़ी में हुए चिपको आंदोलन के अनाम नायक मोहन सिंह का संघर्ष हमें अचरज में डालता है। चिपको आंदोलनकारी मोहन सिंह पुलिस से बचने के लिए भूमिगत थे और 10 मई, 1979 को उनका विवाह होना था। 7 मई को छुपते-छुपाते मोहन सिंह अपने घर पहुँचे। 'आसपास के गाँवों के कार्यकर्ता और रिश्तेदार आगे की रणनीति तय करने के लिए 8 मई को मोहन सिंह के यहाँ इकट्ठा हुए। सभी की राय थी कि बारात तो 10 मई को जाएगी ही लेकिन इस हेतु तैयारी करनी होगी। इलाक़े की सभी लायसेंस वाली बंदूक़ें और बड़्याठ-दरातियों को इकट्ठा करने का निर्णय हुआ। अब जंगल को बचाने के साथ आत्मसम्मान का प्रश्न भी जुड़ चुका था। इस तरह 18 बंदूक़ों और दर्ज़नों बड़्याठों (बड़ी दराँती) के साथ बारात गई और 11 मई को निर्विघ्न वापस लौटी। यदि 10 या 11 मई को वहाँ पुलिस या पी.ए.सी. आ गई होती तो बहुत बड़ा हादसा हो सकता था'। (पृ. 334-35) बालम सिंह जनोटी और पी.सी. तिवारी का भूमिगत होना रोमांच से ज़्यादा अपने ही जन प्रतिनिधियों, जो प्रदेश सरकार में वन तथा पर्वतीय विकास मंत्री थे, की नीचता का प्रमाण था। विद्यार्थियों का ऐसा दमन तब से फिर पिछले कुछ वर्षों में ही हुआ।

चिपको विचार उत्तराखंड से बाहर देश-दुनिया में अकादमिक रूप में लोकप्रिय होने से आगे बढ़कर व्यावहारिक स्वरूप में भी जीवंत हुआ। अस्सी के दशक में हिमाचल, बिहार, राजस्थान और कर्नाटक में सामाजिक कार्यकर्ताओं और सरकारी पहल से इस तरह के प्रयास आरंभ हुए। 'कर्नाटक में इसे 'अप्पिको' नाम दिया गया, जहाँ यह सितंबर, 1983 से चला। हरे पेड़ों की कटाई रोकने के साथ इसने युक्लिप्टस आदि व्यापारिक प्रजातियों के एकल रोपण के ख़िलाफ़ चेतना बनाई। अप्पिको ने पश्चिमी घाट की पारिस्थितिकी संबंधी चेतना

विकसित की, जिसमें केरल शास्त्र साहित्य परिषद् ने अपनी तरह से योगदान दिया था। युरोप में पहले स्विट्ज़रलैंड (1984), फिर स्वीडन (1987) में चिपको दार्शनिक और फ़ैशन के अंदाज़ में गया। अमेरिका में चिपको आंदोलन पूर्वी छोर पर पहले पहुँचा, जहाँ न्यू यॉर्क शहर ने अप्रैल 29 को चिपको दिवस घोषित किया'। (पृ. 374)

चिपको के दौर में हिमालय के आर्थिक और पारिस्थितिकी पहलुओं पर पत्रकारिता और अकादमिक तौर पर ख़ूब लिखा जाने लगा था। वृक्षों को बचाने के ऐतिहासिक प्रसंग और घटनाएँ सार्वजनिक चर्चा में आने लगी थीं। सन् 1730 में खेजड़ी के पेड़ों को बचाने लिए जोधपुर की विश्नोई महिलाओं के संघर्ष और उनकी जीत को पत्र-पत्रिकाओं में रेखांकित किया जाने लगा। चिपको आंदोलन से जुड़े प्रमुख व्यक्तित्व सुंदरलाल बहुगुणा, कुँवर प्रसून, चंडी प्रसाद भट्ट, नवीन नौटियाल, शेखर पाठक, शमशेर बिष्ट राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं में छपते थे। अनुपम मिश्र, अनिल अग्रवाल, रघुवीर सहाय, जयंती बंद्योपाध्याय, वंदना शिवा, सुनीता नारायण, जी.डी. बैरीमन, माधव आशीष, भारत डोगरा, पांडुरंग हेगड़े, मार्टिन जे. हेग, थॉमस वेबर, रामचंद्र गुहा, मुकुल शर्मा आदि ने चिपको के लेखकीय फ़लक को और विस्तार दिया। घनश्याम शैलानी, जीवानंद श्रीयाल और गिरीश तिवाड़ी 'गिर्दा' आदि इसके सांस्कृतिक वाहक बने।

शेखर पाठक मानते हैं कि 'चिपको विभाजित नहीं होता तो आज स्वयं सरकारी वन निगम और ग्रामीणों की वन पंचायतें इस विचार की वाहक होतीं और स्थानीय आर्थिकी का एक नया अध्याय ग्रामीणों के सहयोग से विकसित होता। आज जंगल 'कार्बन सिंक' के लिए सर्वाधिक उपयुक्त स्थान घोषित हैं। जंगलों को बचाना और बनाना (वृक्षारोपण) वैश्विक महत्त्व का पारिस्थितिकी ही नहीं आर्थिक क्रियाकलाप हो गया है। जंगलों को पृथ्वी के फेफड़ों की तरह माना जाने लगा है, जो वे पहले से ही थे। लेकिन इन फेफड़ों पर पहले इतना दबाव कभी नहीं रहा'। (पृ. 490)

चिपको पर सर्वत्र और बहुतायत में लिखे जाने के कारण ग़लत और तथ्यहीन जानकारियाँ भी प्रचारित और प्रसारित होने लगीं। गहराई और विस्तार में जाने के बजाय पत्रकार, शोधार्थी और लेखक बनने की इच्छा से लिखे गए इन लेखों ने मिथ्या प्रचार को बढ़ावा दिया। क्योंकि उस दौर में चिपको पर लिखना और शोध करना जल्दी ख्याति देता था। इसलिए, अपरिपक्व शोधों ने मनगंढ़त क़िस्सों, घटनाओं, स्थानों और व्यक्तियों का धड़ल्ले से ज़िक्र किया। कई चिपको अध्ययनकर्ता स्वयं को भी चिपको आंदोलनकारी साबित करने की जल्दबाज़ी करने लगे। वंदना शिवा का उदाहरण तब स्थानीय स्तर पर चर्चा में आया जब शिवा के चिपको आंदोलनकारी बताए जाने पर स्वयं विजय जरधारी ने संपादक को पत्र लिखा। चिपको के बारे में भ्रम और झूठ को अनजाने और कभी-कभी जानबूझ कर प्रचारित-प्रसारित किया जाता रहा। ताज्जुब ये है कि ये प्रवृत्ति स्थानीय स्तर पर नहीं वरन देश-दुनिया के स्तर पर भी हुई। जिस कारण चिपको देश-दुनिया में तो ग्लैमर पा गया परंतु अपनी ही मूल ज़मीन पर हासिल की गई गंभीरता और गहनता को खोता गया।

'चिपको की चमक का धुँधलाना अस्वाभाविक नहीं है। यह किसी भी सामाजिक

आंदोलन की सच्चाई है। चिपको की उपलब्धियाँ भी कम नहीं हैं पर धुँधलाहट के पीछे सबसे बड़ा कारण है चिपको से जुड़े तमाम समूहों का उस बुनियादी सिद्धांत पर एकमत न रह सकना, जिसके अंतर्गत प्राकृतिक संपदा पर पहला हक़ समुदाय का होता है। उसके अस्तित्व की रक्षा के साथ ही संपदा की रक्षा हो सकती है और संपदा की रक्षा से उसकी अस्तित्व की रक्षा होती है।' (पृ. 515)

चिपको आंदोलन दुनिया में छाया परंतु वर्तमान में अपनी ही जन्मभूमि में उसका बस साया ही दिखता है। स्वतंत्रता के दशकों बाद आज भी वनों के प्रति आम जनता और सरकार की एक-दूसरे के प्रति पूर्वाग्रहों में कोई तब्दीली नहीं आई है। जनता के लिए वन आज भी अनछुए हैं और वन विभाग के लिए जनता वनों पर आक्रमणकारी। स्वाधीनता के बाद तराई-बाबर में शरणार्थी तो बसाए गए, परंतु पहाड़ों में रहने वाले भूमिहीनों और आपदा में खेती, घर-बार गँवाने वाले पहाड़ियों के लिए वहाँ कोई जगह नहीं दी गई। वन उपजों से अपनी ज़रूरतों को प्राप्त करने, अपने हक़-हकूक़ों को जीवित रखने और रोज़गार हासिल करने के मूलभूत अधिकार से भी स्थानीय पहाड़ियों को आज तक वंचित रखा गया है (चिपको की इस विडंबना और चरित्रों को जीवंत करता है नवीन जोशी का 2008 में प्रकाशित उपन्यास *दावानल*। जिसमें वन-वनवासियों के प्राकृतिक सह-संबंधों, प्रकृति की चेतावनी और उसको भूल-बिसरने की मानवीय प्रवृत्ति की ख़ूबसूरत व्याख्या है। इस नाते, चिपको के मर्म और दर्द की अभिव्यक्ति इसमें हुई है।)

आज, कथित पर्यावरणविद केवल पद्म पुरस्कारों की होड़ में दिखते हैं। ऑल वेदर रोड के लिए 50 हज़ार से 1 लाख तक पेड़ कट गए, इन पर कोई हलचल भी नहीं हुई। सत्ता के केंद्र देहरादून के निकट थानों के कटते जंगलों पर पर्यावरण प्रतिष्ठा पाए इन प्रतिष्ठितों की कहीं कोई आवाज़ नहीं है। हो भी कैसे? पर्यावरणविदों के गले में पुरस्कारों के लड्डू फँसे पड़े हैं, आवाज़ कैसे निकलेगी? 70-80 के दशक में व्यवस्था के ख़िलाफ़ हुए आंदोलनों को सरकारी सम्मान देकर चुप कराया जाता था। पर तब भी

> **‘चिपको मूलतः पहाड़ी किसानों का आंदोलन था। पहाड़ की ग्रामीण अर्थव्यवस्था की मूल ताक़त यहाँ की महिलाएँ रही हैं। अधिसंख्यक पुरुषों के रोज़गार के लिए गाँव से दूर मैदानी क्षेत्रों में रहने के कारण स्थानीय महिलाओं में स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता पहले से ही विकसित थी। स्वाभाविक था कि इस आंदोलन में ग्रामीण महिलाओं को अपने दुख-दर्द के कई समाधान दिखाई दिए।’**

वे स्वर बुझे नहीं। आज तो समाज सेवा का पर्याय ही पुरस्कारों को प्राप्त करना लगता है। इसीलिए एनजीओ के प्रवक्ता बनकर देहरादून में सत्ता का सान्निध्य चाहने वाले सरकारी सामाजिक कार्यकर्ताओं की भरमार है। ये लोग चिपको के पुराने कार्यकर्ताओं की छाया भी नहीं हैं। पर चर्चा में बने रहने का उद्यम करते रहते हैं।

यद्यपि, असली और जुनूनी बहुसंख्यक सामाजिक कार्यकर्ता अभी भी नेपथ्य में समर्पित

भाव से कार्य कर रहे हैं। उन्हीं को उम्मीद मान कर इस किताब में उल्लेखित है कि 'जब भी सरकार या सरकार से समर्थन पाई शक्तियाँ जनता के संसाधनों पर प्रहार करेंगी चिपको का ऐजेंडा स्वयं ही हरा और हलचल भरा हो जाएगा। इसीलिए चिपको के विचार को *हरी भरी उम्मीद* कहने का साहस किया गया है'। (पृ. 488)

लेखक चिपको विचार को आज के संदर्भ में उल्लेखित करते हुए मानते हैं कि 'उत्तराखंड का आर्थिक आधार शराब, खनन, बड़ी जलविद्युत परियोजनाएँ, कॉरपोरेट पर्यटन, मनरेगा के धन का अपव्यय या मुफ़्त अनाज वितरण नहीं हो सकता है। यह राज्य कुछ दलों के कुछ नेताओं के लिए धन संचय तथा ऐशो-आराम का साधन नहीं माना जा सकता है। यह युवाओं को पलायन के लिए विवश करने को निर्मित राज्य नहीं है। राजनीतिक-आर्थिक दर्शन के लिहाज़ से भी स्वरोज़गार और उद्यमिता के रास्ते बनाने होंगे। इसके लिए हर आर्थिक क्रियाकलाप का विकेंद्रीकृत रूप विकसित किया जाना है। ज़मीन, जंगल और पानी और वन्यता मिलकर संसाधनों का समुच्चय बनाते हैं।' (पृ. 516)

आने वाले समय के लिए *हरी भरी उम्मीद* की प्रबल आशा में यह किताब विराम लेती है। इतिहासकार अपनी सीमाओं को समझते हुए चिपको की भविष्य की उड़ान की ओर इशारा भर करते हैं। 'आज लगता है कि चिपको आंदोलन 'वह बना दिया गया है' जो 'वह नहीं था'। वह आर्थिकी और पारिस्थितिकी का संतुलित समन्वय था। आज उसे कभी-कभी जिस तरह परिभाषित किया जाता है उसमें आम लोगों के वनाधिकार का सम्मान क़ायम नहीं रह सकता है। यहीं से चिपको को अपनी विलंबित उड़ान लेनी होगी। पर यही वह बिंदु है जहाँ इतिहासकार को रुक जाना पड़ता है क्योंकि वह भविष्य विज्ञान के प्रयोग नहीं कर सकता है।' (पृ. 516-17)

चालीस साल में चिपको का सफ़रनामा

रुचि श्री

पिछले कुछ सालों से देश भर में प्राकृतिक आपदाओं की बढ़ती दर और विशेष रूप से उत्तराखंड में भूकंप, ग्रीष्म ऋतु में जंगलों में आग के फैलने और बाढ़ ने हमें पर्यावरण को ज़्यादा गहराई से लेने पर मजबूर किया है। इस परिप्रेक्ष्य में हाल में आई शेखर पाठक की किताब *हरी भरी उम्मीद* भारतीय संदर्भ में न केवल पर्यावरण अध्ययन बल्कि सामाजिक आंदोलनों एवं समकालीन इतिहास की समझ के लिए बेहद कारगर है। लेखक का स्वयं चिपको आंदोलन से एक लंबे समय से जुड़ा होना एक तरह से किताब के माध्यम से चिपको द्वारा अपनी कहानी सुनाने जैसा जान पड़ता है। इस किताब की एक लंबे समय से प्रतीक्षा थी और

इसके वृहद् प्रारूप से इस विलंब का सीधा संबंध जान पड़ता है। यह किताब शेखर जी के भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान (शिमला) में किए शोध का परिणाम है। उन्होंने 1998 में अपने अध्ययन की एक पांडुलिपि जमा की थी (जिसे वे तब प्रकाशन के योग्य नहीं मानते थे) और 2015 में अपने तीन महीने के कैलिफ़ोर्निया प्रवास के दौरान उन्हें इस पर फिर से काम शुरू करने का मौक़ा मिला। यहाँ उल्लेखनीय है कि उन्होंने यह किताब उस समाज को समर्पित किया है जो जंगलों के मायने समझता है। यह किताब कमोबेश उत्तराखंड के जंगल संबंधी विभिन्न छोटे-बड़े आंदोलनों का इतिहास तो बताता ही है साथ ही इसमें आंदोलनों की समझ बनाने में आने वाली परेशानियों का भी वर्णन है।

किताब चौदह अध्यायों में विभाजित है और रोचक शीर्षकों के माध्यम से चिपको की चार लहरों को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। पहले दो अध्याय में उत्तराखंड के इतिहास, भूगोल और संस्कृति के साथ औपनिवेशिक शासन से आए बदलावों का वर्णन है। तीसरे अध्याय का शीर्षक 'जंगलात की पहली लड़ाई' है जिसमे चेतना और प्रतिरोध के रूपांतरण की कहानी है। चौथे एवं पाँचवें अध्याय में उत्तर-औपनिवेशिक जंगलात परिवेश और चिपको के प्रस्फुटन से पहले की स्थिति का जायज़ा है। छठे से नवें अध्याय चिपको की चार लहरों में विस्तार से चिपको की विभिन्न अभिव्यक्तियों का वर्णन है। अध्याय दस 1980 में आए वन अधिनियम, स्टार पेपर मिल से अनुबंध की समाप्ति और 1000 मीटर से ऊपर कटान पर लगी रोक के बाद अनेक स्थानों पर चल रहे चिपको आंदोलन का ब्यौरा है। अध्याय ग्यारह नेतृत्व, संगठन और जन भागीदारी के विभिन्न आयामों को प्रस्तुत करता है। अध्याय बारह में चिपको के आर्थिक तथा पारिस्थितिक पक्षों के अंतर्संबंधों का विश्लेषण है। तेरहवाँ अध्याय महिलाओं और युवाओं के योगदान का महत्त्व और साथ ही चिपको को एक सामाजिक आंदोलन बनाने में उनकी भूमिका के इर्द-गिर्द है। अंतिम अध्याय चालीस साल पूरे होने पर चिपको के सामयिक महत्त्व और इससे होकर निकली अनेक संस्थाओं एवं आंदोलनों का अध्ययन है।

सिलसिलेवार ढंग से यह अध्ययन प्रदर्शित करता है कि 1854 की औपनिवेशिक वन नीति से लेकर 1952 में आई स्वतंत्र भारत की पहली वन नीति में औद्योगिक दोहन और राजस्व केंद्रित होने से समाज में प्रतिरोध के स्वर क्रमशः तेज़ होते गए। शुरू में लिखा गया सात पृष्ठों का आभार लेखक के वृहद् सामाजिक सरोकार एवं व्यक्तिगत संबंधों का ताना-बाना बुनता है। उनके द्वारा याद किए लोगों और यहाँ तक कि अपने पालतू जानवरों का आभार मानना निश्चय ही उनके लिए व्यष्टि और समष्टि में एकरूपता का परिचायक है। किताब के परिशिष्ट भाग में सरला बहन, चंडी प्रसाद भट्ट, आदि के कुछ पत्रों को शामिल किया गया है जो आंदोलन और बदलती सामाजिक एवं व्यक्तिगत मतभेदों को स्पष्ट करता है। तक़रीबन पैंतीस पृष्ठ में सत्तर तस्वीरें पाठक को इतिहास में झाँकने का एक मौक़ा देती हैं। इनको देखने से एक तरफ़ विभिन्न घटनाओं का एक प्रारूप समझ में आता है तो दूसरी तरफ़ इसमें समाज और व्यक्तियों की भूमिका, इतिहास लेखन के लिए केवल किताबों और अभिलेखागारों के इतर लोक स्मृति एवं श्रुति का भी उपयोग किया गया है।
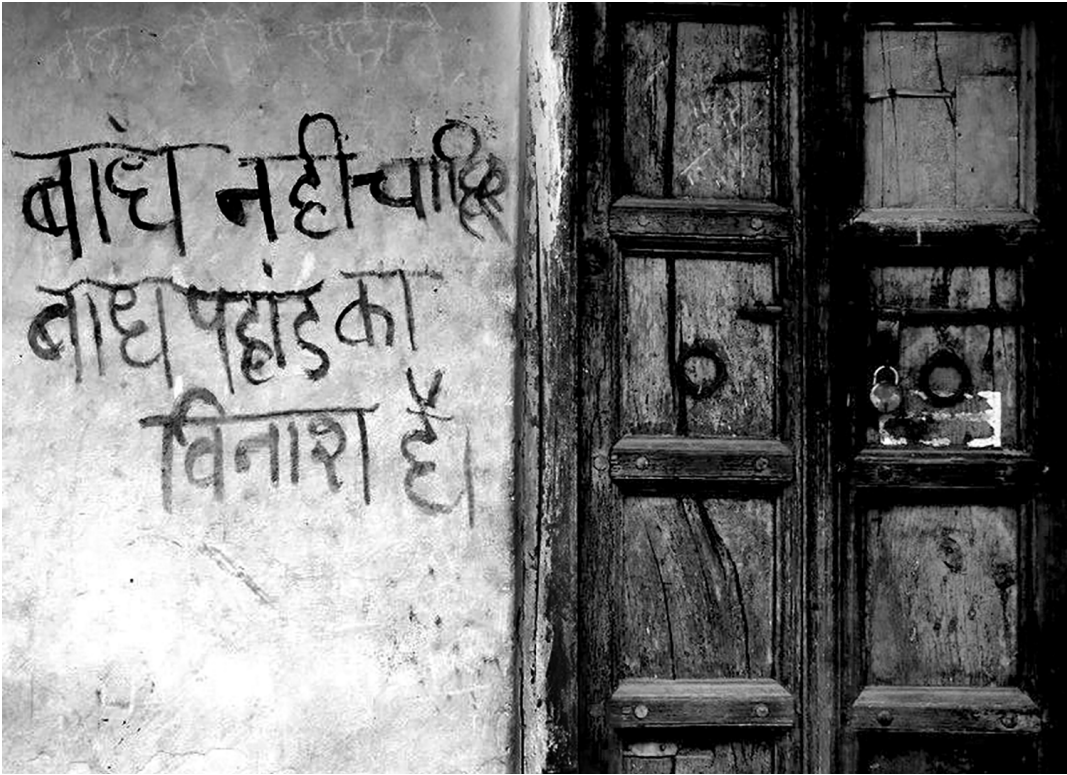
इस किताब के आने से पारिस्थितिकी की समझ के बेहतर होने की संभावना है।

कला, संस्कृति एवं प्रतिरोध की राजनीति

1926 में जंगल सत्याग्रह के समय उत्तराखंड के प्रसिद्ध कवि गौरी दत्त पांडे 'गिर्दा' रचित कविता 'वृक्षन को विलाप' का प्रयोग क़रीब पचास साल बाद चिपको आंदोलनकारियों द्वारा किया गया। संस्कृतिकर्मी गिरीश तिवारी 'गिर्दा' ने प्रभावशाली प्रतीक एवं प्रसंगों को ढूँढ़ने के क्रम में इस कविता को अपना हथियार बनाया। इस कविता की शुरुआत कुछ इस तरह थी :

> बुलै नि सकना तुमन अघ्याडी, लान्गियाँ भें जन्में मुख माल.
> जागा है हम हलकी नि सकना, स्वर्ग टुका में जाड़ पाताल.

(पेड़ आदमी से कह रहे हैं – कि तुम्हारे सामने हम बोल नहीं सकते। मुँह पर जन्म से माल (जानवरों के मुँह पर लगाया जाने वाला जाल) लगा रहता है। अपनी जगह से हम हिल नहीं सकते। हमारा सिर अगर आकाश में है तो जड़ें पाताल में)। (पृ. 277)

सत्तर के दशक में आंदोलनकारियों में जोश भरने के लिए इस कविता में दो और पंक्तियाँ जोड़ी गईं जो कुछ इस तरह से थीं :

> आज हिमाल तुमन कैन धत्यूछ, जागौ जागौ हो मेरा लाल
> नी करि दी हालौ हमरी नीलामी, नि करण दियो हमरो हलाल

(आज हिमालय तुम्हें जगाता है कि जागो मेरे

लाल। कि मत होने दो मेरा नीलाम और मत होने दो मेरा हलाल)। (पृ. 278)

आंदोलनकारियों द्वारा पर्वतीय वाद्य यंत्र 'हुडके' का प्रयोग कर गाने का अभ्यास भी अपनी कला और संस्कृति से जुड़ने का एक अवसर बना। 1958-1959 में कुमाँऊनी कवि श्यामाचरण दत्त 'पंत' की 'कौ सुवा काथ कौ' नामक कविता व्यंग्य के माध्यम से आज़ादी के बाद भारत में जंगलात के यथार्थ और नीति के अंतर्विरोध को प्रस्तुत करती है। (पृ. 129) सत्तर के दशक में लेखक का स्वयं अपने मित्रों के साथ इनमें हिस्सा लिए होने से किताब में घटनाक्रम के विवरण में एक सततता और बारीकी आती है। स्थानीय अख़बारों और पत्रिकाओं जैसे *अल्मोड़ा अख़बार*, *पुरुषार्थ*, *शक्ति*, आदि ने लोगों तक ख़बर पहुँचाने और उनमें जोश भरने में अहम् भूमिका निभाई।

चिपको से निकले नारों ने बाद में भारत में पर्यावरण विमर्श को मज़बूती प्रदान की। कुछ प्रमुख नारे मसलन 'अंगू बचाओ, साइमन भगाओ' (गोपेश्वर), 'क्या है जंगल के उपकार, मिटटी, पानी और बयार', घनश्याम सैलानी का चिपको गीत आदि ने लोगों को एकजुट करने में बहुत मदद की। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि चिपको सिर्फ़ पेड़ों को बचाने का आंदोलन न होकर पहाड़ी समाज की अस्मिता और अस्तित्व के हिफ़ाज़त में कारगर रहा। पूरी तरह से अहिंसा को समर्पित इस आंदोलन को हम इन नारों में भी देख सकते हैं — 'हमला चाहे जैसा हो, हाथ हमारा नहीं उठेगा', 'पेड़ नहीं हम कटेंगे'। (पृ. 280) उत्तरायण ने 'देखना है ज़ोर कितना बाजुए कातिल में है' नामक लेख में सरकार, प्रशासन, वन विभाग, आदि को कठघरे में खड़ा किया है।

संस्था एवं संगठनों का क्रमिक विकास

उत्तराखंड में संस्थाओं का एक लंबा इतिहास इस किताब में वर्णित है। एक क्षेत्रीय असामाजिक-राजनीतिक संगठन के रूप में कुमाऊँ परिषद् का गठन 1916 में हुआ। (पृ. 88) कुमाऊँ प्रांत के

> 'चिपको नेताओं और वन आंदोलनकारियों की नीति-नियत के मूलभूत अंतर को इंगित करते खनी के उक्त विचार 80 के दशक के उत्तराखंड का सामाजिक-राजनीतिक सच था।'

प्रबुद्ध जनों की सदस्यता और भागीदारी के साथ 1917 में इसका पहला सालाना अधिवेशन अल्मोड़ा में हुआ। आगे के सालों में 1918 में दूसरा अधिवेशन हल्द्वानी में, 1919 का अधिवेशन कोटद्वार (ज़िला गढ़वाल) 1920 में नैनीताल के काशीपुर नगर में संपन्न हुआ। इन सम्मेलनों में जहाँ एक तरफ़ राष्ट्रीय मुद्दों के तौर पर आर्म्स ऐक्ट एवं गांधी की गिरफ़्तारी का विरोध शामिल था तो स्थानीय समस्याएँ कुली बेगार, जंगलात तथा शिक्षा से जुड़ी थीं।

1959 में कुमाऊँ जंगलात जाँच समिति (कुजसास) का गठन किया गया। (पृ. 129) इस समिति ने विस्तार से भूमिहीनों को बाने से लेकर पेयजल और सिंचाई संबंधी क़ानूनों में परिवर्तन की आवश्यकता जैसे सुझाव दिए।

हालाँकि कुछ अहम् मुद्दे मसलन जलागम प्रबंध, बाढ़, भूस्खलन और हरित संपदा का पानी के संचय में योगदान अनछुए रह गए। शेखर लिखते हैं कि इस रपट में कई सर्वमान्य तथ्य ग़लत बताए गए थे जैसे विष्णु गंगा को अलकनंदा कहा जाना, मंदाकिनी को त्रिशूल के बदले नंदादेवी से आया बताया जाना, इत्यादि। (पृ. 139) इसी तरह किताब में कई जगहों पर विभिन्न अध्ययनों की त्रुटियों को परिलक्षित करता है।

25 मई, 1977 को उत्तराखंड संघर्ष वाहिनी का गठन हुआ। यह नामकरण छात्र युवा संघर्ष वाहिनी से प्रेरित था। इसका मुख्य उद्देश्य सत्ता, सरकार एवं दलगत राजनीति से दूर रहकर उत्तराखंड के समग्र विकास के कार्यक्रमों को नया आधार तथा स्वरूप देना था। इसके पीछे तीन संगठनों की भूमिका थी – कुमाऊँ क्षेत्र का 'पर्वतीय युवा मोर्चा', चमोली ज़िले में सक्रिय 'युवा निर्माण समिति' और पूरे उत्तराखंड में कार्यरत 'उत्तराखंड सर्वोदय मंडल'। (पृ. 267) वाहिनी के संस्थापकों में चंडी प्रसाद भट्ट, शमशेर बिष्ट, सच्चिदानंद भारती, कुंवर प्रसून, आदि का नाम उल्लेखनीय है। लोक शिक्षण व प्रचार हेतु सदस्यों को ज़िलेवार ज़िम्मेदारी दी गई। वाहिनी के मुखपत्र 'अनिकेत' ने जन भागीदारी और जागरूकता बढ़ाने में बहुत मदद की। बाद के वर्षों में कई नई संस्थाएँ बनीं जैसे पहाड़, हार्क, आदि का ज़िक्र पाठक किताब के अंतिम हिस्से में करते हैं। इनके विस्तार में जाना यहाँ संभव नहीं है।

वाहिनी ने अपने पूर्ववर्ती रूपों या संघटकों (दशौली ग्राम स्वराज्य मंडल, ग्रामीण छात्र संगठन, युवा निर्माण समिति तथा पर्वतीय युवा मोर्चा) के द्वारा पेड़ों को बचाने के आयोजन के साथ ही पेड़ों को लगाने का कार्यक्रम 1975 से ही शुरू कर दिया था। (पृ. 369) इस क्रम में दूधातोली क्षेत्र के उफरैन्खाल नामक जगह पर सच्चिदानंद भारती जी द्वारा किए गए प्रयास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पेशे से इंटर कॉलेज में शिक्षक के तौर पर उन्होंने जिस तरह अपने जीवन को सामाजिक कार्यों और ख़ास कर पर्यावरण के लिए समर्पित कर दिया वह निश्चय ही प्रेरणादाई है। उनकी संस्था दूधातोली लोक विकास संस्थान लगभग तीन दशक से पर्यावरण संरक्षण के विभिन्न कामों में संलग्न है। इनमें वन रक्षण-संवर्धन, जल संचयन, श्रम एवं समय-समय पर शिक्षण शिविरों का आयोजन प्रमुख है। (पृ. 494-495)

महिलाओं की सजग भागीदारी : शराबबंदी से चिपको तक

चिपको में महिलाओं की भूमिका का ज़िक्र कई शोध लेखनों में देखने को मिलता है और इनमें प्रमुख रूप से वंदना शिवा का काम उल्लेखनीय है। भारत में इको-फ़ेमिनिज़्म को प्रचलित करने का श्रेय शिवा को जाता है और इसमें चिपको पर उनके लेखन की अहम् भूमिका है। हालाँकि इस किताब में फ़ेमिनिज़्म के डी-मिस्टिफ़िकेशन का प्रयास किया गया है। यह ग़ौरतलब है कि लेखक चिपको में महिलाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका की पुरज़ोर तरफ़दारी कई जगहों पर किताब में करते हैं पर उन्हें इससे ऐतराज़ है कि चिपको को एक नारीवादी आंदोलन के तौर पर समझा जाए। वे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर चिपको की चर्चा को शिवा द्वारा विशुद्ध स्त्री संघर्ष सिद्ध करने के प्रयास को समानांतर प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। (पृ. 365)

महिलाओं की भूमिका महिला मंगल दल के निर्माण के साथ ज़्यादा संगठित तरीक़े से शुरू हुई। मुकुल शर्मा ने चिपको के गाँवों में अध्ययन के समय पाया था कि महिलाओं ने जंगलात विभाग और पुलिस की धमकियों के बावजूद संघर्ष जारी रखा। वे जंगलों में आग बुझाने जाती रहीं और फलदार पेड़ों का रोपण किया। (पृ. 377) 1986 में जब दशौली ग्राम स्वराज्य मंडल को इंदिरा प्रियदर्शिनी वृक्षमित्र पुरस्कार के लिए चुना गया तो संस्था ने आग्रह किया कि यह पुरस्कार महिला मंगल दल को मिलना चाहिए। गौरादेवी सहित 30 महिला मंगल दल सदस्य राजीव गांधी के हाथों यह पुरस्कार लेने दिल्ली गईं। हालाँकि तब यह मुद्दा भी उठा कि टिहरी और अल्मोड़ा में महिलाओं की भूमिका को नज़रअंदाज़ किया गया।

शेखर लिखते हैं कि महिलाओं को राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन में उतनी प्रखर भूमिका नहीं मिली जितनी चिपको में। वे बताते हैं कि महिलाओं की भागीदारी नशामुक्ति आंदोलन के माध्यम से शुरू हुई और बाद में जंगल पर उनकी निर्भरता के चलते रेणी के संघर्ष, अदवाणी के आंदोलन, आदि में सक्रिय भाग लिया। गौरादेवी और गौरीदेवी (जिनके नाम मुख्य रूप से प्रचलित हैं और कई बार संशय की स्थिति भी कि दोनों एक ही हैं या अलग-अलग) के अलावा सुदेशा देवी, बचनी देवी, सौपा देवी, आदि ने चिपको को व्यापक स्वरूप देने में नेतृत्वकारी भूमिका निभाई। कई महिलाओं को आंदोलन से जुड़ने के क्रम में परिवार में भी संघर्ष का सामना पड़ा। जैसे झाबरी देवी, जो दलित परिवार से थीं, उन्हें न केवल अपने पति बल्कि परिवार और समाज से भी लड़ना पड़ा। इसी तरह बचनी देवी को अपने पति को चुनौती देनी पड़ी जो स्वयं ग्राम प्रधान थे और साथ ही ठेकेदार समर्थक भी। (पृ. 467)

नेतृत्व एवं विचारधाराओं का गहराता द्वंद्व/ विरोधाभास

'पारिस्थितिकी' और 'आर्थिकी' का विभाजन चिपको के अध्ययन में कई विद्वानों द्वारा रेखांकित किया गया है। इसी क्रम में सुंदरलाल बहुगुणा एवं चंडी प्रसाद भट्ट के बीच अंतर और आंदोलन के भीतर प्रतिद्वंद्विता के विकास का ज़िक्र इस किताब के दसवें अध्याय में विस्तार से किया गया है। पाठक लिखते हैं, 'बहुगुणा ने 1980 में चिपको को अपरंपरागत, अल्पजीवी, विनाशकारी अर्थव्यवस्था के ख़िलाफ़ स्थाई अर्थव्यवस्था (इकॉलॉजी) का सशक्त आंदोलन कहना शुरू कर दिया था। वे पाँच 'एफ' की शब्दावली शुरू कर चुके थे यानि फल, खाद,

'महिलाओं की भागीदारी नशामुक्ति आंदोलन के माध्यम से शुरु हुई और बाद में जंगल पर उनकी निर्भरता ने उन्हें रेणी के संघर्ष, अदवाणी के आंदोलन, आदि में सक्रिय भाग लिया।'

इंधन, चारा और रेशा प्रजातियाँ लगाई जाएँ और एकल प्रजाति रोपण बंद हो' (पृ. 372)। भट्ट और बहुगुणा के बीच वैचारिक दूरी को धीरे-धीरे चिपको के ही दो अलग धाराओं के रूप में देखा जाने लगा हालाँकि शेखर इसे अधिक गहराई से समझने के लिए बाध्य करते हैं। मसलन उनका यह कहना कि 'गुहा ने जब यह लिखा कि 'पारिस्थितिकी' चिपको का

'अंतरराष्ट्रीय सार्वजानिक चेहरा' है और 'आर्थिकी' उसका 'निजी घरेलू चेहरा' है, तो स्पष्ट ही यह 1980 के आसपास या उसके बाद गढ़े गए चेहरे थे वर्ना आंदोलन के दो पक्ष हो सकते हैं दो चेहरे नहीं'। (पृ. 456)

यह उल्लेखनीय है कि 1980 के बाद से जैसे-जैसे चिपको की प्रसिद्धि बढ़ती गई तो इसके कई प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष परिणाम धीरे धीरे सामने आए। मसलन एक तरफ़ पुरस्कारों का सिलसिला तो दूसरी तरफ़ नेताओं के बीच बढ़ता वैचारिक मतभेद और तीसरी तरफ़ दुनिया भर में चिपको को पर्यावरण संरक्षण के एक प्रारूप के तौर पर अलग-अलग तरह से अपनाने की कोशिश। किताब के दसवें अध्याय में इन मुद्दों पर विस्तार से चर्चा है। पाठक लिखते हैं, 'चिपको की टहनियाँ अपने अपने क्षेत्र में रोपने के प्रयास होने लगे। 1981-82 में हिमाचल, राजस्थान और 1983 में कर्नाटक तथा बिहार आदि में इस तरह के प्रयास हुए'। (पृ. 374) वैश्विक प्रभाव के रूप में 1984 में पहले स्विट्ज़रलैंड तो 1987 में स्वीडन में इसका दार्शनिक असर दिखा और न्यू यॉर्क में अप्रैल 29 को चिपको दिवस के रूप में घोषित किया गया।

चिपको आंदोलन में तीन प्रमुख राजनीतिक/वैचारिक धाराओं का समावेश देखने को मिलता है। बड़ी संख्या में युवाओं एवं महिलाओं के हिस्सा लेने से यह एक व्यापक जन आंदोलन का स्वरूप ले सका। अधिकांश अध्ययन इस आंदोलन को गांधीवाद-सर्वोदय, समाजवाद-वामपंथ और नारीवाद के दृष्टिकोण से परिभाषित करते हैं। यह ग़ौरतलब है कि लेखक इन तीनों ही विचारधाराओं के सकारात्मक एवं नकारात्मक पक्षों को सामने रखते हैं और इनके बीच एक सामंजस्य की स्थिति को बेहतर बताते हैं न कि किसी एक पक्ष को ही चिपको का आधार मान लेना। किताब में लेखक कई जगहों पर अनुपम मिश्र (गांधी शांति प्रतिष्ठान, दिल्ली), अनिल अग्रवाल (सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट, दिल्ली), सरला बहन (लक्ष्मी आश्रम, कौसानी) सहित कई शुभचिंतकों द्वारा चिपको को एक सही रूप में प्रस्तुत करने के लिए आभार मानते हैं। शेखर का यह कहना कि 'चिपको आंदोलन 'वह बना दिया गया है' जो 'वह नहीं था', वह आर्थिकी और पारिस्थितिकी का संतुलित समन्वय था' (पृ. 516), इस किताब का सार जान पड़ता है।

आंदोलन में यात्राओं का बदलता स्वरूप एवं महत्त्व

इस किताब को पढ़ते हुए कई बार लगता है कि चिपको 'आंदोलनों का आंदोलन' है। मसलन, छठे अध्याय 'चिपको की पहली लहर' में इसकी तीन टहनियों का ज़िक्र है। ये तीन टहनियाँ बदरीनाथ आंदोलन, सोंगघाटी आंदोलन तथा अस्कोट-आराकोट अभियान हैं। अंतिम अभियान (अस्कोट-आराकोट) का ज़िक्र विस्तार से आगे किया गया है। बाद के आंदोलनों में मैती आंदोलन (चमोली), चेतना आंदोलन (सिल्यारा), लक्ष्मी आश्रम का खनन विरोधी तथा जंगल बचाओ अभियान, डूंगरी-पैंतोली का आंदोलन, पाणी रखो आंदोलन (गोपेश्वर) बीज बचाओ आंदोलन (हेंवलघाटी), नदी बचाओ अभियान, आदि प्रमुख हैं। अलग-अलग समय पर भिन्न-भिन्न मुद्दों को लेकर हुए इन सभी आंदोलनों ने सामाजिक चेतना को

जगाने और सामाजिक परिवर्तन के लिए लोगों को आगे आने के लिए बाध्य होने की कहानी बताता है। इस किताब के माध्यम से लेखक बख़ूबी यह बताते हैं कि किस तरह व्यक्ति और राज्य के बीच समाज एक तरह की सतत निरंतरता बरक़रार रखता है।

चिपको आंदोलन के बनने में और स्वयं लेखक के इस आंदोलन से जुड़ने में यात्राओं की भूमिका कई मायनों में अहम है। शेखर पाठक का अपने छात्र जीवन में 1974 में अस्कोट-आराकोट यात्रा के दर्जनों अन्य साथियों के साथ सहभागी होने से बाद में स्वयं शेखर सहित चिपको के कई कार्यकर्त्ता एक-दूसरे से और इस आंदोलन से जुड़ पाए। यह यात्रा क़रीब 800 किलोमीटर लंबी थी और लगभग 150 गाँवों से होकर गुज़री। इस यात्रा से लोगों को क़रीब से जंगलों और उससे जुड़ी समस्याओं को देखने और समझने का मौक़ा मिला। (पृ. 218-219) बाद में *पहाड़* नामक संस्था (जिसके साथ शेखर जुड़े हुए हैं) ने इस यात्रा का फिर से प्रारंभ किया और यह यात्रा हर दस साल पर अर्थात क्रमशः 1984, 1994, 2004 एवं 2014 में आयोजित की गई। (पृ. 502) इस अभियान की सबसे बड़ी विशेषता इसका अन्न और आवास के लिए पूरी तरह से जनता पर निर्भर रहना है। चंडी प्रसाद भट्ट ने 2014 में इस यात्रा को 'जंगम विश्वविद्यालय' (वॉकिंग युनिवर्सिटी) कहा।

बहुगुणा द्वारा समय-समय पर कई यात्राओं का किया जाना आंदोलन के स्वरूप में भी बदलाव लाने लगा। लेखक कई बार उन्हें कठघरे में खड़े करते प्रतीत होते हैं। मसलन उनका यह लिखना कि वन अधिनियम के लागू होते ही बहुगुणा चिपको का संदेश पूरे हिमालय में फैलाने निकल पड़े थे और उनकी कश्मीर-कोहिमा यात्रा 1981 में प्रारंभ होकर किश्तों में 1983 तक चलती रही। (पृ. 375) उनकी समझ में बहुगुणा चिपको को दार्शनिक के तौर पर विश्लेषित करने लगे थे (पृ. 368)। इसी तरह एक अन्य जगह विमला बहुगुणा की रचनात्मकता को नियंत्रित करने के लिए भी वे सुंदरलाल बहुगुणा को लगभग दोषी क़रार देते हैं। सिल्यारा आश्रम में ग्रामीण शिक्षा और दलित उत्थान के कार्य विमला जी को छोड़ने पड़े। इसी क्रम में शेखर एक महत्त्वपूर्ण बात बताते हैं। उन्हीं के शब्दों में, 'संस्थाओं और आंदोलनों में नेतृत्व, संगठन और कार्यकर्त्ता के साथ कार्यक्रमों की निरंतरता एक बड़ा सवाल रहा है। हमारी अधिकतर संस्थाएँ पुरुष केंद्रित और पुरुष संचालित होती हैं। उनमे वह सामूहिकता और जनतांत्रिक पारदर्शिता विकसित नहीं हो पाती है, जो सामूहिक आंदोलनों की निरंतरता के लिए बहुत जरूरी है'। (पृ. 475)

चिपको पर हुए अनेक शोधों में कई तथ्यात्मक गलतियों को भी यह किताब रेखांकित करती है। लगभग हरेक अध्याय के संदर्भ में कई ऐसी बातें सामने आती हैं और कई अध्यायों के पाठन के दौरान भी। हालाँकि एक लेखक के तौर पर शेखर पाठक कई बार पूर्वाग्रहों से ग्रसित जान पड़ते हैं। मसलन, वंदना शिवा और सुंदरलाल बहुगुणा के प्रति उनके विचारों का कई जगह नकारात्मक रूप से परिलक्षित होना। हालाँकि यह उनके व्यक्तिगत अनुभव के परिणाम के रूप में भी देखा जा सकता है। किताब में कुछेक विसंगतियाँ भी हैं जैसे इलिनॉर ओस्ट्रोम की प्रसिद्ध किताब *गवर्निंग द कॉमन्स* का जगह-जगह *कन्जर्विंग द कॉमन्स* लिखा जाना, कुछ जगहों पर सन/ईस्वी संबंधी ग़लतियों का होना। उम्मीद है अगले संस्करण में ये सुधार लिए जाएँगे।